

साहित्य मेघ

sahityamegh.com

प्रिंट एवम् ऑन लाइन

साहित्य मेघ

sahityamegh.com

483, अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) 211 003

प्रधान संपादक

डॉ. दानिश

(9919142411)

सह-संपादक (अवैतानिक)

डॉ. राजविंदर कौर

(9759912434)

सह-संपादक (अवैतानिक)

डॉ. तबस्सुम जहां

(9873104110)

वर्ष 1, अंक 1 अप्रैल, 2021

एक प्रति : 150/- ; वार्षिक : 1500/-

BANK DETAIL : IFSC CODE : UBIN0530371

MOHD SALEEM UNION BANK, CIVIL LINE, ALLAHABAD

सम्पादक : डॉ. मोहम्मद सलीम

9696486386, व्हाट्सएप नं. : 9919142411

sahityamegh@gmail.com

483, अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) 211 003

1. संपादकीय	डॉ. दानिश ...	5
2. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक'	डॉ. दानिश ...	7
3. स्मृति में गिरिजाकुमार माथुर: क्या लिखूँ क्या छोड़ूँ	डॉ. प्रताप सहगल ...	9
4. तीन कविताएं	डॉ. शशि सहगल ...	15
5. पंत की काव्ययात्रा : विकास और परिणति	प्रो. ओमप्रकाश सिंह ...	17
6. यह कविता लिखने का समय नहीं है	प्रो. चंद्रदेव यादव ...	25
7. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : जहर पीते रहे, गीत गाते रहे	प्रो. राम आह्लाद चौधरी ...	42
8. कोरोना वैक्सीन भी पॉजिटिव हुईं	तेजेन्द्र शर्मा ...	51
9. पांडे जी के अब्दुत किस्से	लालित्य ललित ...	52
10. पहली बख्शीश	रजनी मोरवाल ...	56
11. मैं यहीं रहूँगा	गिरीश पंकज ...	65
12. फॉस	प्रो. प्रभा पंत ...	69
13. ग़ज़ल, कविताएं	डॉ. राजविंदर कौर ...	74
14. कहानी समीक्षा (पहली बख्शीश)	डॉ. तबस्सुम जहां ...	76
15. लोक गीत परंपरा में स्त्री वेदना के स्वर	अनुराधा गुप्ता ...	78
16. 'जादू है... नशा है'	राजीव तनेजा ...	82
17. कविताएं	अभिलाष तिवारी ...	86
18. स्मृति के सरगम में राम अष्टम	सिध्देश्वर सिंह ...	88
19. मृत्यु किनारे कलकल छलछल	रूपेश कुमार ...	91
20. 'गाँधीजी, भारत का नमन'	विनोद नायक ...	95
21. यूं बनी महाभारत(नाटक)/प्रताप सहगल व्यवस्था की मूढ़ता पर कशाघात (समीक्षा)	सुशील सिद्धार्थ ...	98

सम्पादक मण्डल

परामर्श मण्डल

भारत	विदेश	देश-विदेश
प्रो. ओमप्रकाश सिंह (9899446861) (विभागाध्यक्ष जे.एन.यू.)	प्रो. सरन घई (+1 (647) 993-0330) कनाडा	डॉ. प्रताप सहगल (9810638563) (भारत)
प्रो. कृपाशंकर पाण्डेय (9984523706) (विभागाध्यक्ष, इला. यू.)	प्रो. पुष्पिता अवस्थी (+91 70584-62951) (www.pushpitaawasthi.com)	प्रो. अब्दुल बिस्मिल्लाह (9811306331) (भारत)
प्रो. मोहन (9871115500) (दिल्ली विश्वविद्यालय)	नीदरलैंड	डॉ. शशि सहगल (9899166129) (भारत)
प्रो. चन्द्रदेव यादव (9818158745) (जामिया मिल्लिया इस्लामिया)	डॉ. सुरेश चंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' (+47 90070318) (speil.nett@gmail.com)	तेजेन्द्र शर्मा (44 7400313433) (यू.के.)
प्रो. लालचंद राम HOD हिन्दी विभाग NCERT	नॉर्वे	
प्रो. चंदा देवी (8004928441) (पू. विभागाध्यक्ष, इला. यू.)	अनुराग शर्मा (+1 (412) 692-1362) (indiasmart@gmail.com)	
प्रो. रामकली सराफ (9389432165) (विभागाध्यक्ष बी.एच.यू.)	अमेरिका	
प्रो. शत्रुघ्न कुमार (9811243423) (विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इग्नू)	रेखा राजवंशी (+61 403116301) ऑस्ट्रेलिया	
प्रो. राम आहलाद चौधरी (9432051500) (पू. विभागाध्यक्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय)		
प्रो. रुबी जुत्शी (9419058585) (विभागाध्यक्ष जम्मू कश्मीर)		
प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक (8919892935) (विभागाध्यक्ष हैदराबाद यू.)		

शुभ संदेश

‘साहित्य मेघ’ मानवीय मूल्यों, भावनात्मक एकता और विश्व-मैत्री, विश्व-शांति के लिए प्रेम-सहकार के बादल बनकर बरसे, परिणाम स्वरूप उन्नति की फसल चतुर्दिक लहके यही मेरी शुभकामनाएं हैं।

—प्रोफेसर योगेन्द्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सरसरी नजर से मैंने ‘साहित्य मेघ’ का अंक देखा था। अंक की सामग्री विविधतापूर्ण है। आपने प्रवेशांक को हर तरह से परफेक्ट बनाने की कोशिश की है। इसमें आपको बहुत हद तक सफलता मिली है। इसके लिए आप और आपके सहयोगी बधाई के हकदार हैं।

आगामी अंक के लिए फिलहाल मेरे तीन सुझाव हैं। पहला, सम्पादकीय पर विशेष ध्यान दीजिए। इस अंक की संपादकीय कमजोर है।

दूसरा, रचनाओं को उनकी गुणवत्ता के आधार पर वरीयता दें, लेखक की वरिष्ठता या किसी अन्य आधार पर नहीं।

तीसरा, किसी सामयिक समस्या या मुद्दे पर स्तंभ लेखन को शामिल कीजिए।

इस अंक में भाषा की अशुद्धियाँ हैं इस पर भी ध्यान दीजिए तथा पत्रिका को विचारप्रधान बनाइये।

शुभकामनाओं के साथ

—प्रो. चन्द्रदेव यादव
जामिया मिलिया इस्मालिया
नई दिल्ली।

संपादकीय

पत्र- पत्रिकाएँ हमारे जीवन के मूल्यवान अंग हैं। साहित्यिक पत्रिकाएँ, विधाओं के विकास, एक दम नयी विधा को सामने लाने, विकसित करने और किसी दूसरी भाषा से लायी हुई विधा को अपनी भाषा में सम्मिलित करने की भी प्रशंसनीय भूमिका निभाती रहीं हैं। इस कार्य के लिए हिंदी साहित्य जगत के अनेकानेक और एक से बढ़ कर एक सूर्य साहित्यिक सौरमंडल को सुशोभित कर रहे हैं।

हमारा यह प्रयास होगा कि साहित्य मेघ मेघागम तक ही सीमित न रहे।

हिंदी साहित्य के सुंदर बगीचों में साहित्य मेघ कौन -सा गुल खिलाएगा यह तो वक्रत ही बताएगा। ये केवल बादल बनकर उड़ जाएगा या समुंदर में मिलकर अपना अस्तित्व खो देगा या मोती बन जाएगा। इसका निर्णय भी आने वाला समय ही करेगा। निःसंदेह हमारे साहित्य प्रेम और उससे जुड़ाव ने हमें एक ऐसी ईश्वरीय प्रेरणा दी जिसे साहित्य मेघ के जन्म के रूप में देखा जा सकता है। साहित्य मेघ का यह प्रथम अंक है। पत्रिका के भावी भविष्य को लेकर अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी याद आ रहे हैं।

दैव मेरे भाग्य में है क्या बदा
में बचूंगी या मिलूंगी धूल में
या जलूंगी गिर अंगारे पर किसी
चू पडूंगी या कमल के फूल में।
बह गई उस काल कुछ ऐसी हवा
वह समुंदर ओर आई अनमनी
एक सुंदर सीप का मुंह था खुला
वह उसी में जा पड़ी मोती बनी
(अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध')

हमारा प्रयत्न होगा कि हिंदी भाषा, साहित्य से

जुड़े विभिन्न पक्षों को प्रकाशित करें। इसके अतिरिक्त शैक्षिक अनुसंधान, चिंतन-विमर्श और ज्ञान एवं सूचनाओं के आदान-प्रदान पर भी पत्रिका विशेष ध्यान देगी।

कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, आलोचना, यात्रावृत्तांत, जीवनी, आत्मकथा तथा साहित्य की लगभग सभी विधाओं का प्रकाशन किया जाएगा। पत्रिका में छपी सामग्री उच्च स्तरीय होगी। शोध आलेख को प्रमुखता दी जाएगी। जो इस पत्रिका का मूल उद्देश्य भी है।

साहित्य मेघ द्वारा हम सामाजिक कुरीतियों को मिटाने की दिशा में अग्रसर हैं। हम एक स्वस्थ समाज की कल्पना करते हैं। संकटकालीन स्थितियों में राष्ट्र प्रेम दिखाना है। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना तथा समाज में मानव मूल्यों की स्थापना के साथ जन-जीवन को विकासोन्मुख बनाना भी हमारी पत्रिका का उद्देश्य है।

स्त्री लेखन व उनकी रचनाओं के बिना हमारा साहित्य मेघ शुष्क और नीरस होगा। किंतु उग्र नही उदार नारीवाद के पक्षधर हैं हम।

साहित्य मेघ के संदर्भ में एक विशेष बात यह भी है कि यह पत्रिका हिंदी गजल को सच्चे शाब्दिक अर्थ में स्थापित करने में सहयोगी होगी।

दुष्यंत कुमार ने हिन्दी गजल को हिमालयी ऊंचाई प्रदान की है। किंतु निम्न में उनकी गजलों के कुछ शेरों को देखिए:

ये सारा जिस्म झुक कर बोझ से दुहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नहीं था आपको धोखा हुआ होगा
यहां तो सिर्फ गूंगे और बहरे लोग बसते हैं
खुदा जाने वहां पर किस तरह जलसा हुआ होगा
सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं

मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए
मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए
यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है
चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए
तुम्हारे पाँव के नीचे कोई ज़मीन नहीं
कमाल ये है कि फिर भी तुम्हें यकीन नहीं
मैं बेपनाह अँधेरों को सुबह कैसे कहूँ
मैं इन नज़ारों का अँधा तमाशबीन नहीं
तुम्हीं से प्यार जतायें तुम्हीं को खा जों
अदीब यों तो सियासी हैं पर कमीन नहीं
तुझे कसम है खुदी को बहुत हलाक न कर
तु इस मशीन का पुर्जा है तू मशीन नहीं

क्या हिंदी गज़ल के इन शेरों को उर्दू लिपि में
लिख देने के बाद उनको उर्दू गज़लों के शेर नहीं कहा
जा सकता है। हिंदी गज़ल ऐसी हो जो उर्दू लिपि में
लिखने के बाद भी उसे उर्दू गज़ल न कहा जा सके। वह
पूर्णतः हिंदी गज़ल ही रहे।

अब देखिये मेरी हिंदी गजल का एक ताज़ा शेर:

आपदा को अवसरों में ढालने की शक्ति है
तो रहेगा क्या निकट दुख साहसी बलवान के

क्या इस शेर को भी उर्दू लिपि में लिखने के बाद
कोई इसे उर्दू शेर कह सकता है कदापि नहीं। यह शेर
केवल हिंदी शेर ही कहलायेगा। हिंदी उर्दू दोनों नहीं।
हम केवल ऐसे हिंदी शेर को ही हिंदी गज़ल का शेर
मानते हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के अनुसार गजल अब अपने
शाब्दिक अर्थ से बाहर आ गई है और यह एक ऐसी
काव्य विधा बन गई है जिसमें जीवन के विविध पहलुओं
की अभिव्यक्ति हो रही है।

गजल की काव्यगत विशेषताओं को रेखांकित

करते हुए श्री देवेन्द्र शर्मा इन्द्र ने लिखा है कि ‘.....,
मानवीय मूल्यों के विघटन का, सामाजिक अव्यवस्था
, शोषण और आतंक का उपजीव्य सामग्री के रूप में
अधिक प्रयोग किया जाता है।

गज़ल की उत्पत्ति ही हुस्र ओ इश्क़ के गर्भ से
हुई और यही गज़ल का बुनियादी विषय है। इसे हटाने
से गज़ल अपने एक चमकदार रंग से वंचित हो जाएगी।
इसके बिना कालांतर में गज़ल रूपी यह ताजमहल गिर
भी सकता है। सौंदर्य वर्णन, प्रेम वर्णन हरेक दिल की
धड़कन है जो हर युग मे रहा है और रहेगा। ये साहित्य
के अभिन्न अंग हैं तो गज़ल में विद्यमान इस विशेष विषय
को हटा कर इसे बेघर नहीं किया जाना चाहिए।

मेरा उर्दू का एक शेर है-

तुम्हारे वास्ते जो शेर हो गया जानां
वही जुबान ज़दे खास ओ आम है अब तक।

प्रत्येक वर्ष उच्चकोटि की साहित्यिक कृति पर
पुरुस्कार भी दिया जाएगा।

साहित्य मेघ मुद्रित होगी और ऑनलाइन भी।
दोनों में एक समान सामग्री होगी।

हमने इसे अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका बनाने का पूर्ण
प्रयास किया है।

परामर्श मण्डल, सम्पादक मण्डल के सभी सदस्य
बड़े ही सम्माननीय साहित्यकार हैं। इन सब का सहयोग
और संरक्षण साहित्य मेघ के लिए गौरव की बात है। हम
इन सभी सम्मानित हस्तियों का बहुत बहुत आभार प्रकट
करते हैं।

डॉ राजविंदर कौर (अतिथि संपादिका) डॉ तबस्सुम
जहां (सह-संपादिका) की विशेषण क्षमता, सक्रियता व
सहभागिता से बहुत प्रभावित हूँ। इनका भी हृदय की
गहराइयों से आभार प्रकट करता हूँ। इनके सहयोग के
बिना इस पत्रिका का प्रकाशन संभव ही नहीं था।

—डॉ दानिश

डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक साहित्यकार के रूप में

डॉ. दानिश

डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक राजनीति के अतिरिक्त साहित्यिक प्रतिभा के भी असाधारण व्यक्ति हैं। उन्होंने 15 जुलाई 1959 में पिनानी ग्राम, पौड़ी गढ़वाल उत्तराखण्ड में आँखे खोली। डॉ निशंक सर्वप्रथम अध्यापक के रूप में उत्तराखण्ड विद्यालयों में कार्यरत रहे। बाद में साहित्य, पत्रकारिता, राजनीति के क्षेत्र में लगन और काम से सफलता के गगनचुंबी सिंहासन पर जा बैठे।

डॉ रमेश पोखरियाल 'निशंक' ने स्वयं को एक बड़े साहित्यकार के रूप में स्थापित किया और एक उच्च सम्मानजनक स्थान प्राप्त किया। उनकी कृतियां राष्ट्रवाद व राष्ट्रप्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं। उनका नाम राष्ट्रकवि के रूप में अधिक लिया जाता है।

उनका प्रथम कविता संग्रह 'समर्पण' 1983 में प्रकाशित हुआ। राजनीतिज्ञ होने के कारण अति व्यस्त होते हैं किंतु उनका लेखन उसी गति से चलता है। उनकी कृतियों की प्रासंगिकता और मौलिकता इतनी है कि उनको जर्मन, अंग्रेजी, फ्रेंच, तेलुगु, मलयालम, मराठी आदि में अनूदित किया जा चुका है।

इनके साहित्य को मद्रास, चेन्नई तथा हैबर्ग विश्वविद्यालय में पढ़ाया जाता है। उनके साहित्य पर अनेक लोग जैसे (डॉ0 श्यामधर तिवारी, डॉ0 विनय डबराल, डॉ0 नगेन्द्र, डॉ0 सविता मोहन, डॉ0 नन्द किशोर और डॉ0 सुधाकर तिवारी) शोध कार्य कर चुके हैं। कई राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों (गढ़वाल विश्वविद्यालय, कुमाऊं विश्वविद्यालय, सागर विश्वविद्यालय, मद्रास विश्वविद्यालय, हैबर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी, लखनऊ विश्वविद्यालय तथा मेरठ विश्वविद्यालय) में भी शोध कार्य हो रहा है।

'निशंक' की प्रथम कृति 'समर्पण' (कविता संग्रह) वर्ष 1983 में प्रकाशित हुआ था। अब तक उनके 10 कविता संग्रह, 12 कहानी संग्रह, 10 उपन्यास, 2 पर्यटन ग्रन्थ, 6 बाल साहित्य, 2 व्यक्तित्व विकास

सहित कुल 4 दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं आज भी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद उनका लेखन जारी है।

प्रकाशित कृतियां-

- 1- समर्पण (कविता संग्रह) 1983
- 2- नवांकुर (कविता संग्रह) 1984
- 3- मुझे विधाता बनना है (कविता संग्रह) 1985
- 4- तुम भी मेरे साथ चलो (कविता संग्रह) 1986
- 5- रोशनी की एक किरण (कहानी संग्रह) 1986
- 6- देश हम जलने न देंगे (कविता संग्रह) 1988
- 7- जीवन पथ में (कविता संग्रह) 1989
- 8- बस एक ही इच्छा (कहानी संग्रह) 1989
- 9- मातृभूमि के लिए (कविता संग्रह) 1992
- 10- क्या नहीं हो सकता (कहानी संग्रह) 1993
- 11- भीड़ साक्षी है (कहानी संग्रह) 1993
- 12- मेरे पत्र मेरी कथा
(शहीदों के पत्रों का संकलन) 1996
- 13- मेजर निराला (उपन्यास) 1997
- 14- पहाड़ से ऊंचा (उपन्यास) 2000
- 15- एक और कहानी (कहानी संग्रह) 2002
- 16- कोई मुश्किल नहीं (कविता संग्रह) 2003-4
- 17- मेरे संकल्प (कहानी संग्रह) 2005
- 18- प्रतीक्षा (लम्बी कविता) 2006
- 19- ए वतन तेरे लिए (कविता संग्रह) 2006
- 20- खड़े हुए प्रश्न (कहानी संग्रह) 2007
- 21- विपदा जीवित है (कहानी संग्रह) 2007
- 22- बीरा (उपन्यास) 2008
- 23- निशान्त (उपन्यास) 2008
- 24- संघर्ष जारी है (कविता संग्रह) 2009
- 25- धरती का स्वर्ग: उत्तराखण्ड (एक), 2009
हिमालय का महाकुम्भ: नन्दा देवी राजजात (पावन पारम्परिक यात्रा)

- 26- छूट गया पड़ाव (उपन्यास) 2010
- 27- टूटते दायरे (कहानी संग्रह) 2010
- 28- मील के पत्थर (कहानी संग्रह) 2010
- 29- अपना पराया (उपन्यास) 2010
- 30- धरती का स्वर्ग: उत्तराखण्ड (दो), 2010
स्पर्श गंगा: उत्तराखण्ड की पवित्र नदियां
- 31- पल्लवी (उपन्यास) 2010
- 32- आओ सीखें कहानियों से (बाल कहानियां- हिन्दी एवं अंग्रेजी) 2010
- 33- सफलता के मूल मंत्र (व्यक्तित्व विकास- हिन्दी एवं अंग्रेजी) 2010
- 34- प्रतिज्ञा (उपन्यास) 2011
- 35- परिश्रम पर विश्वास करें, भाग्य पर नहीं (व्यक्तित्व विकास) 2011
- 36- संसार कायरो के लिए नहीं (स्वामी विवेकानन्द का जीवन प्रबंधन) 2012

अनूदित कृतियाँ:-

- 1- खड़े हुए प्रश्न (कहानी संग्रह) En Kelvikku Ennabathil (तमिल)
- 2- ऐ वतन तेरे लिए (कविता संग्रह) Tayanade Unakkad (तमिल)
- 3- ऐ वतन तेरे लिए (कविता संग्रह) Anmabhoomi (तेलुगु)
- 4- भीड़ साक्षी है (कहानी संग्रह) The Crowd Bears Witness (अंग्रेजी)
- 5- बस एक ही इच्छा (कहानी संग्रह) Nur Ein Wunsch (जर्मन)
- 6- खड़े हुए प्रश्न (कहानी संग्रह) Prashnankit (मराठी)
- 7- खड़े हुए प्रश्न (कहानी संग्रह) Esperances Et Verites (फ्रेंच)
- 8- क्या नहीं हो सकता (कहानी संग्रह) Sangle Shakya Aahe (मराठी)
- 9- बस एक ही इच्छा (कहानी संग्रह) बस एक ही इच्छा (गढ़वाली)
- 10- तुम और मैं (कहानी संग्रह) Du Und Ich (जर्मन)

पुरस्कार और सम्मान

- भारत सरकार द्वारा “हिमालय का महाकुम्भ- नंदा राज जात” पुस्तक पर वर्ष 2008-09 का राहुल सांकृत्यायन पुरस्कार।

- अंतर्राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, कोलम्बो द्वारा साहित्य के क्षेत्र में डी.लिट. की मानद उपाधि।
- ग्राफिक इरा, डीम्ड विश्वविद्यालय, उत्तराखण्ड द्वारा साहित्य के क्षेत्र में डी.लिट. की मानद उपाधि।
- उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार द्वारा डी.लिट. की मानद उपाधि।
- गोपियो (ग्लोबल ऑर्गनाइजेशन ऑफ पीपल ऑफ इंडियन ऑरिजन) संगठन द्वारा मॉरीशस में अंतर्राष्ट्रीय असाधारण उपलब्धि सम्मान से सम्मानित।
- मॉरीशस सरकार द्वारा मॉरीशस सम्मान से सम्मानित।
- पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम द्वारा साहित्य गौरव सम्मान।
- पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा साहित्य भारती सम्मान।
- सुप्रसिद्ध फिल्म निर्माता पद्मश्री रामानन्द सागर एवं मुंबई की विभिन्न साहित्य संस्थाओं द्वारा साहित्यचेता सम्मान।
- भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा एवं श्री ज्ञानी जैल सिंह द्वारा राष्ट्रप्रेम की कविताओं के लिए राष्ट्रपति भवन में सम्मानित।
- साहित्यिक कृतियों के लिए हैंबर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी द्वारा सम्मानित।
- मॉरीशस सरकार द्वारा ‘स्पर्श गंगा’ पुस्तक को देश के विद्यालयी पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की घोषणा।
- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद (उ.प्र.) की विद्या वाचस्पति की उपाधि।
- नालंदा विद्यापीठ, बिहार द्वारा साहित्य वाचस्पति की उपाधि।
- श्रीलंका, हॉलैंड, नौर्वे, जर्मनी और माँस्को में सम्मान।
- भारत गौरव सम्मान।
- हिन्दी गौरव सम्मान।
- साहित्य भूषण सम्मान।
- साहित्य मनीषि सम्मान।

डॉ. 'निशंक' जो राजनीति एवं साहित्य दोनों में सफल हैं। वे आशावादी हैं और यही आशावादी सोच उनकी रचनाओं की आत्मा है और सफलता की कुंजी भी।



स्मृति में गिरिजाकुमार माथुर : क्या लिखूँ क्या छोड़ूँ

डॉ. प्रताप सहगल

उलझाव की भी कोई सीमा होती है क्या? शायद हाँ, शायद नहीं। गिरिजाकुमार माथुर के साथ मेरी स्मृतियाँ उलझी हुई हैं। कौन सी स्मृति को पहले दर्ज करूँ, किसे बाद में, यह तय करना कठिन हो रहा है। कठिन इसलिए कि उनके साथ कई शायें एक साथ गुज़री हैं। दिन में कई बार फोन पर और कई बार उनकी फिएट कार में घूमते हुए लंबी बातों की हैं। कविता और दुनियाँ-जहान की बातें कीं। इसलिए स्मृति में बहुत कुछ उलझ गया है। उलझाव का एक सिरा पकड़कर अपनी बात कहने की कोशिश करता हूँ।

वह फरवरी, 1981 की कोई शाम थी, जब मैंने उनसे पहली बार फोन पर संपर्क किया एक गोष्ठी की अध्यक्षता करने के लिए। 1980 की बात है कि नरेन्द्र मोहन के साथ हुई एक बैठक में मैंने यह विचार रखा कि साहित्य और कला का एक ऐसा मंच शुरू किया जाए, जिसमें हर विचारधारा से जुड़े लेखक तथा अन्य जन अपनी भागीदारी कर सकें। वाम और दक्षिण का झगड़ा तब भी था, आज भी है। विचारधारों हैं तो उनका प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियों के बीच संघर्ष रहेगा ही। संघर्ष रहे, लेकिन सभी खुले मन से एक मंच पर जुटें। इसी विचार से मैंने 'गवाक्ष' नाम से एक मंच शुरू करने का विचार रखा। मित्रों ने इसका स्वागत किया। पहली दो अनौपचारिक बैठकें सुरेश धींगड़ा के निवास पर हुईं और सिलसिला आगे बढ़ने लगा। लोग जुड़ने लगे। तीसरी बैठक नरेन्द्र मोहन के निवास तो चौथी बैठक विनोद शर्मा के घर हुई। अब विचार बना कि इस मंच की बैठकें लेखकों के निवास से बाहर भी हों। इस तरह से पाँचवीं बैठक बाराखंभा रोड पर हुई, जिसकी अध्यक्षता हरिवंश राय बच्चन ने की। अभी तक गिरिजाकुमार माथुर हमारे साथ नहीं जुड़े थे। हम गिरिजाकुमार माथुर

और उनके काव्य-संसार पर चर्चा करते रहते थे, लेकिन मेरा उनके साथ निकट का संबंध नहीं था।

उन दिनों बाबा खड़गसिंह मार्ग पर स्थित राजस्थान सूचना केन्द्र ने यह सुविधा जुटा दी थी कि साहित्य से जुड़ी गोष्ठियाँ वहाँ हो सकें। 28 फरवरी, 1981 को यहीं पर एक गोष्ठी करना तय हुआ। वस्तुतः कविता मूल्यांकन की दो गोष्ठियाँ करना तय हुआ। पहली गोष्ठी 28 फरवरी, 1981 को और दूसरी गोष्ठी 16 मई, 1981 की शाम को हुई। पहली गोष्ठी की अध्यक्षता के लिए गिरिजाकुमार माथुर और दूसरी के लिए केदारनाथ सिंह का नाम तय किया गया। इसी उद्देश्य से मैंने पहली बार माथुर साहब को फोन किया और उनकी स्वीकृति ली। इसी गोष्ठी में औपचारिक रूप से निमंत्रण देने के लिए मैं और नरेन्द्र मोहन उनके जनकपुरी वाले निवास पर पहुँचे। यह मेरी उनसे पहली मुलाकात थी।

कविता मूल्यांकन गोष्ठी की यह शाम उत्तेजक बहस की शाम थी। गंगाप्रसाद विमल, यश गुलाटी और सुखबीर सिंह ने अपने आलेख पढ़े तो अजित कुमार ने चर्चा की शुरुआत की। राजस्थान सूचना केन्द्र का गोष्ठी-कक्ष खचाखच भरा हुआ था। बोलने वालों में सुधीश पचौरी, बलदेव वंशी, नरेन्द्र मोहन, रामदरश मिश्र, ओंकारनाथ श्रीवास्तव आदि अनेक कवि मित्रों एवं आलोचकों ने अपनी-अपनी राय रखी, जिसे गिरिजाकुमार माथुर ने समेटते हुए और हिन्दी कविता के इतिहास का झरोखा खोलते हुए समकालीन कविता पर भी अपनी राय रखी।

इस गोष्ठी के बाद ही उनके साथ मेरा नैकट्य बना। उसी रात और अगली सुबह उनके साथ कविता गोष्ठी में हुई चर्चाओं के बहाने कविता पर लंबी बातें शुरू हुईं। वे हमारे लिए कविता का जीवित इतिहास थे।

निराला और शिवमंगल सिंह सुमन के लिए उनके मन में खास जगह थी। जगदीश चतुर्वेदी और अशोक वाजपेयी को वे उनके बचपन से जानते थे। बाद में हुई बातों से यह भी पता चला कि उनकी कविताओं को कैलाश वाजपेयी बेहतर तरीके से समझते थे।

यह मोबाइल फोन का ज़माना नहीं था। जो भी बात होती, उसके लिए घर में होना ज़रूरी था। मैं एक सांध्य कालिज में पढ़ाता था, इसलिए दिन में अक्सर घर पर उपलब्ध रहता। दिन में लंबी बात करने की सुविधा उन्हें तो थी ही, मुझे भी थी। फोन पर बात करने का सिलसिला बढ़ता गया। वे लंबी बात करने के शौकीन थे। इतनी बातें, इतनी बातें कि उन्हें याद रखना संभव नहीं। डा नगेन्द्र की इस बात के लिए प्रशंसा करते थे कि उन्होंने उनकी कविता में आई रूमनियत और मांसलता को रेखांकित किया लेकिन इस बात से खफा भी थे कि हिन्दी आलोचना उनकी कविता के केवल इसी पक्ष को ले उड़ी। उनकी कविता का सौंदर्य-बोध और प्रगतिशील पक्ष रेखांकित होने से छूट गया। वे कविता में आई मांसलता को सौंदर्य के साथ जोड़कर देखने के हामी थे। बिना सौंदर्य-बोध के मांसलता का चित्रण अक्सर अश्लीलता की हदों में प्रवेश कर जाता है। उनकी कवितों भी इस बात की गवाह हैं कि उनकी रूमानी कविताओं का सौंदर्य-बोध सहृदय को सुख देते हुए उन्हें उनके अनुभवों से जोड़ देता है। कई बार उनकी कविता का सौंदर्य छायावादी सौंदर्य की तरह से वायवी भी लगने लगता है। जैसे छाया मत छूना मन, होगा दुख दूना मन। इसी संदर्भ में मुझे साहित्य अकादमी में हुई उस सभा का स्मरण हो रहा है, जिसमें रामविलास शर्मा गिरिजाकुमार माथुर के काव्य पर बोले थे। यह 11 जनवरी, 1994 की शाम थी। अचानक एक स्मृति मेरे मन में कौंधी है। एक दिन पहले ही यानी 10 जनवरी, 1994 को माथुर साहब का निधन हुआ था और उनका अंतिम संस्कार करके हम लोग लौटे थे। निगम बोध घाट पर उनका अंतिम संस्कार हुआ था। अफसोस की बात यह कि इतने बड़े कवि के लिए साहित्यकारों की उपस्थिति लगभग नगण्य थी। अशोक वाजपेयी, कैलाश वाजपेयी, जगदीश चतुर्वेदी, महेश दर्पण आदि के चेहरे

वहाँ खड़े इस समय याद आ रहे हैं। इस तरह की उदासीनता और कई जगह भी देखी गई है। इस प्रसंग को यहीं छोड़ते हुए एक अन्य प्रसंग की चर्चा करता हूँ।

डॉ. रामविलास शर्मा को उसी दिन साहित्य अकादमी में किसी अन्य विषय पर बोलना था। वे केवल इस शर्त के साथ ही आए थे कि वे सबसे पहले गिरिजाकुमार माथुर पर बोलेंगे। साहित्य अकादमी का सेमिनार-कक्ष खचाखच भरा हुआ था। कुछ लोग प्रवेश-द्वार तक खड़े हुए थे। उन्होंने सबसे पहले गिरिजाकुमार माथुर को श्रद्धांजलि देते हुए उन्होंने कहा कि गिरिजाकुमार माथुर की कविता का प्रमुख स्वर प्रगतिशील ही है। उन्होंने उनकी अन्य कई कविताओं के साथ उनकी कविता 'एशिया का जागरण' का उदाहरण दिया। एशिया का जागरण कविता में जब वे कहते हैं- 'मेरी छाती पर रखा हुआ/साम्राज्यवाद का रक्त कलश/मेरी धरती पर फैला है/मंत्र बनकर मृत्यु दिवस।' 'साम्राज्यवाद का रक्त-कलश' किस ओर संकेत कर रहा है। इस रक्त कलश का भार केवल भारत ही नहीं, पूरे एशिया की छाती पर था। यह कविता 1946 की है। स्थितियाँ अभी भी कहाँ बदली हैं। साम्राज्यवाद के रक्त कलश का स्वरूप बदल गया है। आर्थिक वर्चस्व के साथ-साथ सांस्कृतिक वर्चस्व भी बढ़ा है।

गिरिजाकुमार माथुर की कविता इन प्रभावों से अछूती नहीं हैं। अगर उनकी कविता व्यक्तित्व का मध्यांतर पर भी निगाह डालें तो लगता है कि यह कविता एक व्यक्ति की यात्रा के मध्य एक पड़ाव की कविता है- 'लो आ पहुँचा सूरज के चक्रों का उतार/रह गई अधूरी धूप उम्र के आँगन में/हो गया चढ़ावा मंद, वर्ष-अंगार थके/कुछ फूल शेष रह गए समय के दामन में।' आत्मविश्लेषण करते हुए भी कविता की भाषा उनकी प्रगतिशील मानसिकता की बुनावट की ओर ही संकेत करती है।

मेरी निगाह में गिरिजाकुमार माथुर की कविता के स्वरों को मुख्य रूप से तीन स्तरों पर समझा जा सकता है। पहला स्वर प्रगतिशील है जैसे कि एशिया का जागरण, राम भरोसे, महावृक्ष की पुकार तथा अन्य कई कविताएँ। दूसरा रोमानियत और मांसलता का स्वर जैसे चूड़ी का टुकड़ा या रेडियम की छाया आदि कवितों तथा

तीसरा स्वर वैज्ञानिक टैंपर वाला है जैसे कल्पांतर, पृथ्वीकल्प तथा अन्य कई तर्कशील कविताओं। उनकी कविताओं के अन्य भी कई गौण स्वर हो सकते हैं। वे स्वयं 'जो बंध नहीं सका' कहकर कई संभावनाओं की ओर संकेत करते हैं। रूमान, मांसलता, सौन्दर्यबोध, प्रगतिशीलता, प्रयोगधर्मिता और नई कविता में मानव-मूल्यों के प्रति आग्रह के साथ-साथ उनकी कविताओं में आया साइंटिफिक टैंपर संभवतः उनके किसी भी समकालीन में नहीं हैं। अपने अंतिम दिनों में उन्होंने वैश्विक-दृष्टि अर्जित कर ली थी और उसे ही वे अपने संवाद में रेखांकित करते थे। इन सबके बावजूद उन्हें व्यक्ति के लघु-मानत्व पर संदेह भरा विश्वास था। शायद जीवन में आए अनुभव ही इस तरह की सोच का आधार होते हैं। इसी संदर्भ में इस प्रसंग को दर्ज करना चाहता हूँ।

एक बार माथुर जी का फोन आया कि कल मुझे आल इंडिया इंस्टिट्यूट में अपनी आँखें दिखाने जाना है। उन्होंने मुझसे पूछा - 'आप मेरे साथ चलेंगे?' पवन उन दिनों अमेरिका में था और अमित नौकरी पर। मैंने सहर्ष हाँ कर दी। जनकपुरी पहुँचा। वे इंतज़ार ही कर रहे थे। टिप-टाप। सूट-बूट-टाई में रहना उन्हें सुहाता था। उनके पास फिएट गाड़ी थी। निकाली और हम दोनों चल दिये। थोड़ी दूर निकले ही थे कि उन्होंने गाड़ी सड़क किनारे रोकी, एक सिगरेट निकाली, उसके दो टुकड़े किए। एक मुझे दिया, एक खुद रखा और ज़ोर से हँसे, पूछा- 'सिगरेट पी लेते हो न?'

'हाँ, कभी कभी'।

'मैं सिगरेट नहीं पीता, निकोटीन होती है न इसमें, पर इसका धुआँ मुझे बहुत अच्छा लगता है'। यह कोई विदेशी सिगरेट थी। उन्होंने लाइटर जलाकर मेरी ओर फिर अपनी सिगरेट सुलगाई। मैंने एक कश लगाते हुए उनसे पूछा- 'माथुर साहब, आधी-आधी सिगरेट एक ही है क्या?'

वे फिर हँसे। हँसते तो उनके कथई दाँत चमकते। कहने लगे- 'पूरी पिओगे, है मेरे पास। मैं आधी ही पिऊँगा। पूरी जलाऊँगा तो पूरी पी जाऊँगा। इसमें निकोटीन होती है। मुझे अस्थमा भी है न। घर में नहीं

पीता। पवन, अमित, शकुंत जी, सब बुरा मानते हैं।' उन्होंने अपने हिस्से की आधी सिगरेट को भी आधा ही पिया और फेंक दिया। उस दिन के बाद जब भी हम बाहर घूमने निकलते, पहले आधी-आधी सिगरेट पीते, बतियाते और आगे चलते।

'सुना है, आप शराब बहुत पीते हो?' उन्होंने मुझसे पूछा।

'नहीं, बहुत तो नहीं, दो-तीन पैग... दिन में कभी नहीं पीता'

'मन तो मेरा भी करता है शराब के लिए, लेकिन मुझे सूट नहीं करती। एक पैग पीने के बाद ही बाथरूम चला जाऊँगा। इधर पी, उधर निकल गई। क्या फायदा? बहुत पीने से नुकसान करती है। आजकल अशोक वाजपेई बहुत पीने लगा है। जगदीश चतुर्वेदी, विमल भी बहुत पीते हैं। नरेन्द्र मोहन भी लेते हैं क्या?'

'हाँ, मेरे साथ कभी कभी ले लेते हैं' मैंने कहा।

क्या लिखूँ, क्या छोड़ूँ। वे मेरे साथ एक जीवित इतिहास थे। कविता का, कवियों का।

थोड़ी ही देर में उन्होंने यह कहते हुए गाड़ी आकाशवाणी भवन की ओर मोड़ दी- 'दूरदर्शन होते हुए चलते हैं।' मैंने हामी भरी और कुछ ही देर बाद हम उन दिनों दूरदर्शन केन्द्र के निदेशक सत्यप्रकाश किरण के कमरे में थे। सत्यप्रकाश किरण के साथ मैं एक कार्यक्रम कर चुका था। माथुर साहब ने जब मेरा परिचय करवाया। वे मुस्कराए और बोले - 'सहगल जी, आपको मैं याद ही कर रहा था, उस कार्यक्रम के बाद आपने कभी संपर्क ही नहीं किया। अच्छा किया माथुर साहब, जो आप इन्हें साथ ले आए। हमारे लिए कुछ लिखिए।' उन दिनों दिल्ली दूरदर्शन पर एक लोकप्रिय कार्यक्रम 'ज़रा सोचिए' चल रहा था। यह एक प्रचारात्मक कार्यक्रम था। जीवन की ज़रूरी बातों को चार-पाँच मिनट की स्क्रिप्ट में पेश करते हुए अंत में जीवनपयोगी कोई संदेश देना। गिरिजाकुमार माथुर उस कार्यक्रम की स्क्रिप्ट लिखते थे। उन्होंने आपस में कुछ विषयों पर चर्चा की। वहीं कुछ और लोगों से मिलने-मिलवाने के बाद हम लोग दोपहर बाद आल इंडिया इंस्टिट्यूट पहुँचे।

इसके बाद जो घटा, वह उदास करने वाला था। आँखों के एक डाक्टर के सामने उन्होंने अपना परिचय एक कवि के रूप में दिया तो उस डाक्टर ने पहचान नहीं की। हम होंगे कामयाब की बात की, तब भी वह पहचान नहीं सका, लेकिन जब उन्होंने ज़रा सोचिए कार्यक्रम वाले गिरिजाकुमार माथुर की चर्चा की तो उस डाक्टर के चेहरे पर हल्की सी मुस्कान आई। गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवि के चेहरे पर विषाद की लकीरें तैरने लगी थीं। इस देश में किसी नेता का कुत्ता भी बीमार पड़ जाए तो प्रशासन और मेडिकल फ्रेट्रनिटि सतर्क हो जाती है लेकिन गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवि को कोई नहीं पहचानता। नर्वे का ज़िक्क करते हुए हिमांशु जोशी अक्सर बताया करते थे कि वहाँ एक कवि, कलाकार या लेखक का कितना आदर है। गिरिजाकुमार माथुर उदास तो थे लेकिन निराश नहीं थे। मैं उनसे भी ज़्यादा उदास था और संभ्रम में था कि लघु-मानत्व का एक चेहरा क्या इसे भी कह सकते हैं? इसी मनः स्थिति में हम लोग वापिस लौटे।

ऐसा नहीं कि उदासी और निराशा की स्थितियाँ उनके जीवन में पहले कभी न आई हों, लेकिन उन्होंने निराशा को अपनी कविता का मूल स्वर कभी नहीं बनने दिया। उनकी कविताओं में चेतावनी है 'आज जीत की रात, पहरूए सावधान रहना', भविष्य की संभावनाओं हैं 'हम होंगे कामयाब। हम होंगे कामयाब एक दिन, मन में है विश्वास, पूरा है विश्वास, हम होंगे कामयाब एक दिन'। अमानवीय संदर्भों के खिलाफ गंभीर आवाज़ है 'विक्षिप्तों का जुलूस', तार्किकता पूर्ण चिंतन लिए अध्यात्म है जैसे काल के कगार कविता-श्रृंखला में लिखी हुई उनकी पाँच कवितों 'अनंत की देहरी पर', 'ठंडे कुहरे', 'समय एक सतरंगी डोर है', 'पुनर्जन्म की कामना' तथा 'रजनीगंधा कुम्हलाई'।

गिरिजाकुमार माथुर अपने कविता-संचयन मुझे और अभी कहना है (1991) की भूमिका के शुरू में लिखते हैं 'रचना यात्रा की कठिन राह अलग से बनाना तय कर लिया था' से स्पष्ट होता है कि वे अपनी सृजन-यात्रा के शुरू होने के समय से ही सतर्क और चौकस थे। जानते थे कि कविता में कवियों की भीड़

बहुत है। भीड़ में अपनी पहचान बनाना कठिन होता है। क्या ऐसा संभव हो पाया? कतिपय लोग मानते हैं कि गिरिजाकुमार माथुर छायावादी कविता का एक्सटेंशन हैं। क्या सचमुच ऐसा है? मुझे लगता है कि यह मान्यता सही नहीं है। उनकी शुरू की कुछ कविताओं में छायावादी प्रतिध्वनियाँ सुनाई दे सकती हैं लेकिन यह याद रखना चाहिए कि छायावादी कविता के विरोध में तब तक प्रगतिशील कविता और व्यक्तिक गीतिकाव्यधारा अपनी-अपनी पहचान बना चुकी थीं। इनके समानंतर राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य-धारा भी अपनी शक्ति के साथ उपस्थित थी, लेकिन उसे रेखांकित नहीं किया जा रहा था। ऐसे माहौल में उन्हें इन तीनों तरह की कविताओं को आत्मसात करते हुए अपनी अलग पहचान बनानी थी। उनकी पहचान के तीन स्तरों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। रूमानीयत भरी मांसल कविताओं, प्रगतिशील स्वर वाली कविताओं और वैज्ञानिक टैंपर वाली कविताओं। रोमान और मांसलता का सौंदर्यबोध छायावादी सौंदर्यबोध से अलग लेकिन व्यक्तिक गीतिकाव्य धारा के करीब है। माथुर साहब को कविता में ध्वनि और संगीत में नाद की गहरी पहचान थी। कविता में भी वे ध्वनि के साथ-साथ नाद तत्त्व को भी ज़रूरी मानते थे। एक बार बातचीत में उन्होंने मुझसे कहा भी था कि वे मुक्त-छंद अपनाते हुए भी कविता की लय नहीं छोड़ना चाहते। अर्थ की लय के समान ही वे शब्दों की लय को भी महत्त्व देते थे। उनकी कविताओं इसकी गवाह हैं। इसी कविता संचयन में ही उन्होंने यह बात दर्ज की है कि यह रामविलास शर्मा ही थे, जो उन्हें पहली बार निराला से मिलवाने ले गए थे। निराला ने जब गिरिजाकुमार माथुर की कविताएँ सुनीं तो खुद ही कहा कि उनके पहले कविता-संग्रह 'मंजीर' की भूमिका वे लिखेंगे। अब यह बात इतिहास का हिस्सा है।

उनके साथ गवाक्ष की हुई कई गोष्ठियों और कलकत्ता में हुए एक कवि-सम्मेलन में मुझे कविता पढ़ने का अवसर मिला है। कविता पढ़ने से पहले कविता के चुनाव को लेकर वे अक्सर परेशान रहते थे कि अपनी यह कविता पढ़ें, वो कविता पढ़ें या कोई नयी कविता पढ़ें। कलकत्ता (अब कोलकाता) का प्रसंग दिलचस्प है, इसलिए वह मैं आपसे साझा करना चाहता हूँ। उन

दिनों हिन्दी के ही एक कवि स्वदेश भारती कलकत्ता में इलाहाबाद बैंक में एक उच्च-अधिकारी थे। वे हर साल बैंक के सौजन्य से एक कवि-सम्मेलन करवाते थे। एक बार उन्होंने मुझे भी बुलाया। दिल्ली से जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल और गिरिजाकुमार माथुर आमंत्रित थे। मैं इन चारों लोगों में उम्र में सबसे छोटा था। भारती ने हम सबके लिए राजधानी से टिकिट बुक करवाए थे। वापिसी हवाई जहाज़ से थी। बहरहाल हम चारों लोग दिल्ली-कलकत्ता राजधानी में सवार हुए। माथुर साहब अंत में पहुँचे थे। उनके आने से पहले हम तीनों में चर्चा थी कि यात्रा में माथुर साहब ने टाई लगाई होगी या नहीं। यह बात वस्तुतः उनकी जीवनचर्या से जुड़ी हुई थी। माथुर साहब को अच्छे कपड़े पहनने और सज-संवर कर रहने का शौक था। जगदीश चतुर्वेदी उन्हें अपने बचपन से ही जानते थे। कुछ अन्य मित्र भी यही कहते सुनाई देते कि उनमें साहिबी वाला अंदाज़ है। मैं तटस्थ था, जगदीश चतुर्वेदी आश्चर्य थे कि वे बिना टाई के नहीं आएंगे, विमल नमक-मिर्च की छौंक लगा रहे थे। थोड़ी देर बाद देखा कि सूट-बूट टाई और आँखों पर गागल्स लगाए माथुर साहब ने डिब्बे में प्रवेश किया। जगदीश मंद-मंद मुस्काराए। हमने साथ दिया। माथुर साहब का स्वागत किया। शाम का वक्रत था। गाड़ी चली। जैसे ही अँधेरा हुआ, बोतल खुली। माथुर साहब केवल दर्शक थे, हम तीनों भोक्ता।

हम सोना चाहते थे लेकिन माथुर साहब को नींद नहीं आ रही थी। उन्हें शिकायत थी कि उनकी बर्थ के ठीक नीचे ही गाड़ी का एक पहिया है जो बहुत उछलता है। मैंने कहा, आप मेरी बर्थ पर आ जाइए, मैं वहाँ चला जाता हूँ। ऐसा ही किया, थोड़ी ही देर बाद वे पुनः मेरे पास आए और कहा-‘उससे तो यही बर्थ अच्छी है। आपकी बर्थ तो और भी उछल रही है।’ वस्तुतः गाड़ी की गति तेज़ थी और ऐसे में लगता था कि कभी भी गाड़ी ट्रैक से उतर जाएगी। ट्रैक बदलते वक्रत कुछ ज़्यादा ही ऐसा लगता है। बमुश्किल हम लोग एक-दो घंटा ही सो पाए। बर्थ ही बदलते रहे। माथुर साहब ने अपनी टाई अभी भी नहीं उतारी थी, बस कुछ ढीली कर ली थी।

संयोग से मुझे और माथुर साहब को एक ही

कमरे में रखा गया। होटल अच्छा था। शाम को मैं, जगदीश चतुर्वेदी और विमल डाइनिंग हाल में पीने के लिए बैठे। माथुर साहब नहीं आए लेकिन चर्चा में उन्हीं की उपस्थिति थी और वे दोनों मुझे रात के लिए आगाह कर रहे थे। खाने के बाद माथुर साहब ने मेरी कविताओं पर बात शुरू की। मैं उन्हें अपना पहला कविता-संग्रह ‘सवाल अब भी मौजूद है’ दे चुका था। उन्होंने और शकुंत माथुर, दोनों ने पढ़ा। कहने लगे-‘शकुंत जी को आपकी कविताएँ औरों से बहुत अलग लगी हैं।’ मैं खामोशी से उनकी बात सुनना चाहता था। मैंने इतना ज़रूर पूछा कि आपको कैसी लगीं? माथुर साहब की आँखों में चमक आई। उनकी आँखों में कविता के सौंदर्य जैसी चमक रहती थी। कविता पर बात करते हुए वह चमक और भी बढ़ जाती। कहने लगे-‘शकुंत जी की बात मुझे ठीक लगती है लेकिन मुझे परेशानी यह है कि कविता की विभिन्न धाराओं में आपकी कविताओं को कहाँ प्लेस करूँ?’

यानी?

‘इन कविताओं में रोष है, विचारधारा की आँच तो है लेकिन बहुत सी कविताएँ एकदम अलग सी हैं। छोटी कविताओं के बिंब बहुत अच्छे हैं। आजकल कविता में गाँव के अनुभव और बाज़ार के शब्द आ रहे हैं’

‘माथुर साहब, मैं शहर का आदमी हूँ। गाँव मैंने या तो किताबों में पढ़ा है या फ़िल्मों में देखा है। वह कितना सच्चा है, कितना बनावटी, इस बात को छोड़ भी दूँ तो मैं गाँव के अनुभवों पर नहीं लिख सकता। मेरे पास वैसे अनुभव हैं ही नहीं। लिखूँगा, तो झूठ होगा और कविता में झूठ नहीं चलता’

‘नहीं, बाज़ार के शब्द?’

‘मेरे पास जो अनुभव और जो भाषा है, वही मेरी शक्ति है। शहर में भी बाज़ार है और उसके शब्द और अनुभव मेरी कविताओं में जगह पाते हैं। उसके लिए मुझे कुछ भी सायास करने की ज़रूरत नहीं। किसी कवि को कहाँ प्लेस किया जाए? यह समस्या आलोचकों की हो सकती है, मेरी नहीं। आपको भी कवि के रूप में प्लेस करने की समस्या आलोचकों के सामने है।’

‘डा नगेन्द्र ने किया है, लेकिन मेरी छवि को सीमित कर दिया है। मेरी सर्वांग जीवन-दृष्टि पर चर्चा नहीं होती। मेरी कविता आत्मनिष्ठ होते हुए भी आत्मनिष्ठ कल्पना विलास नहीं है। उसे एक बड़ी दुनिया के साथ जुड़ना है।’ इसके साथ ही उन्होंने पृथ्वीकल्प तथा कल्पांतर की कविताओं की चर्चा की और उन कविताओं की चर्चा की जिनके मूलाधार उनके देहातों पछार और टकनेरी में हैं, जिसे बाद और आज भी अशोक नगर के नाम से जाना जाता है। दियाधरी नाम की कवितों इसी पृष्ठभूमि से आती हैं।

एकदम उन्होंने चर्चा का ट्रैक बदला और मेरी पत्नी शशि सहगल की कविताओं की चर्चा शुरू की। कहने लगे -‘अच्छी बात यह है कि आप दोनों की कविताओं का स्वर समान नहीं है। उनकी कवितों एक कामकाजी गृहस्थिन की कवितों हैं। उनमें संवेदना के बिंदु गहरे हैं, आपकी कविताओं में विचार के’ जैसे कि आपकी और शकुंत जी की कविताओं के आधार अलग-अलग हैं’ वे ज़ोर से हँसे और बात बदलने लगे।

यह एक लंबी काव्य-चर्चा थी, जिसके कुछ सूत्र ही अब स्मृति में हैं। इस चर्चा के बाद उन्होंने अपनी कई कविताएँ निकालीं और पूछा -‘कल कौन-कौन सी सुनाऊँ?’ कुछ नई कविताएँ भी थीं। जगदीश चतुर्वेदी और विमल ने मुझे इस खतरे से आगाह कर दिया था। अब वह खतरा सामने था। मैं इससे बच नहीं सकता था। सोना चाहता था लेकिन माथुर साहब को यह कहने का साहस अभी नहीं था। वे एक के बाद एक अपनी कवितों पढ़ने लगे। कौन सी कविता सुनाऊँ? यह उनका शाश्वत प्रश्न था। आठ-दस कविताएँ सुनने के बाद होटल की लाइट चली गई। मुझे उस स्थिति से सम्मानपूर्वक निकलने का अवसर मिला- ‘माथुर साहब अब सोते हैं। आप जो भी सुनों, लेकिन ‘छाया मत छूना मन का’ सस्वर पाठ ज़रूर करें, मैंने आज तक उसे आपके मुख से सुना नहीं है।

‘पुरानी है, अच्छा सुनोगे...पहले यह सुनो, नई कविता है’ कहते हुए उन्होंने अपनी छोटी सी टार्च निकाली और कागज़ों पर घुमा-घुमा कर अपनी कविता पढ़ने लगे।’ यह बात मुझे स्तंभित करने वाली थी कि

इतना बड़ा कवि अभी तक कविता सुनाने के मोह से मुक्त नहीं हो पाया। वह कविता सुनी और लाइट आ गई। अब कुछ और कवितों। रात के दो बज चुके थे। उन्हें नींद नहीं आ रही थी और मैं सोना चाहता था।

उस रात मुश्किल से हम लोग तीन-चार घंटा ही सो पाए। अगले दिन के कवि-सम्मेलन में उन्होंने अपनी अन्य कविताओं के साथ ‘छाया मत छूना मन का’ भी सस्वर पाठ किया। उनका कंठ मधुर था। आरोह-अवरोह पर नियंत्रण। उम्र के उस पड़ाव पर भी कविता का सस्वर पाठ करते हुए न लय टूटती थी, न साँस। श्रोता मंत्र-मुग्ध थे।

एक प्रसंग और याद आ रहा है। एक दिन पवन का फोन आया- ‘कहाँ हो?’

‘मैं घर ही हूँ, तुम सुनाओ’

‘पापा जी की तबियत ठीक नहीं है। वो तुम्हें याद कर रहे हैं। मिलना चाहते हैं तुमसे’

पवन ने ही बताया कि उन्हें गंभीर रूप से अस्थमा का अटैक हुआ है और वे पिछले तीन-चार दिनों से नर्सिंग होम में हैं। यह जनकपुरी के ही आसपास कोई नर्सिंग होम था। उसी शाम मैं उनसे मिलने गया। कमरे में पवन भी साथ था। माथुर साहब अव्यवस्थित थे। दाढ़ी बड़ी हुई। मुझे देखते ही मुस्कराएँ और अपनी दाढ़ी की ओर इशारा करते हुए पूछा - ‘बाबा नागार्जुन लगता हूँ न?’ मैं भी मुस्काराया। कुछ वक़्त वहाँ गुज़ारा और पवन से हालचाल जानने के बाद लौटा। मौसम बदलते हुए उन्हें अक्सर अस्थमा का अटैक होता था। इस बार कुछ ज़्यादा तेज़ था। इसी मर्ज़ के चलते ही उन्होंने कई दिन बाद अंतिम साँस ली थी।

माथुर साहब का दैहिक रूप से अनुपस्थित होना, कविता में अनुपस्थित होना नहीं था। उनके सही मूल्यांकन का दौर सही अर्थों में अब शुरू हुआ था। अपनी कुछ स्मृतियों के बहाने मेरा यह एक विनम्र प्रयास है।

एफ़-101, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027

फ़ोन : 7217745878 9810638563



माँ

डॉ. शशि सहगल

माँ शब्द सुनते ही
ज़हन में उग आती हैं तीन पीढ़ियाँ
और माँ झांकने लगती है
अतीत के झरोखों से।
कभी चीटियों को मारने से रोकती हुई
और कभी झुनझुने वाले से दूर ले जाती हुई।

पता नहीं कब उसने
पहली बार समझाया था आदमी और औरत का फ़र्क
आदमी, आदमी होता है
हर हक़ का मालिक
और मैंने तभी समझा था
क्यों वजूद खत्म हो जाता था उसका
पिता के सामने
वह मुँह नहीं खोलती थी
केवल उसका तन काँपता था।

वैसे तो माँ
सदा कुछ न कुछ करती रहती थी
लेकिन कोई भी काम
इतना महत्वपूर्ण नहीं रहा
कि बन सके उसका दस्तावेज़।
मैंने सदा उसे काम करते ही देखा
खाते नहीं, खिलाते हुए
चुन्नी से माथे का पसीना पोंछते
हमारी आँखों की तृप्ति में सुख पाते देखा।

कई मौसम आए और गए
माँ अब वैसी नहीं रही
टपकती झोंपड़ी सी हो गई थी माँ
फ़िर भी लोगों के बीच
कोई प्रतिष्ठा नहीं थी उसकी।
नहीं जानते थे लोग उसका नाम
मतदाता सूची में ही सन्नाम होती थी वह।
यद्यपि माँ अब नहीं है

फ़िर भी आसपास बनी रहती है
हवा सी।
निषिद्ध कामों से रोकती है मुझे
मैं उसकी उपस्थिति
और अधिक महसूस करती हूँ
उसके जाने के बाद।

अब मैंने संभाल लिया है उसका पद
बेटी और नाती के लिए
अब मैं माँ हूँ
पर नहीं काँपता मेरा तन
घर और बाहर दोनों को संभालते हुए
बनाए रखती हूँ संतुलन
फ़िर भी, मन के गह्वर में
भीतर कहीं सालता हुआ
अपरिभाषित ही रह जाता है।
पूर्वदीप्ति सी कौंधती है
माँ की बात
आदमी, आदमी होता है

हर हक़ का मालिक
और हवाओं का रुख पहचानती मेरी छठी इन्द्री
शिष्टाचारवश
खुशी-खुशी कर देती है मुझे
अनचाहे समझौतों के हवाले।

समय की तीसरी दस्तक
मेरी बेटी
जीवन की गति को और तेज़ करती
पत्नी, माँ और गृहणी का फ़र्ज़ निभाती
अहम की परिभाषा समझाती है
मुझे मेरी ही जायी
पर वह क्या है?
जो हम तीनों माँओं को बाँधता है
एक निश्चित हृदयबन्दी में ?

महफूज

हम साथ-साथ रहते हैं सालों साल
कभी इन सालों का इतिहास
ज़िन्दगी की किताब के शुरुआती पन्ने
गुलाबी आभा बिखेरते
मोहते हैं मन को फिर फ़ीकी पड़ने लगती है चमक।
धीरे-धीरे जो याद करने से ही होती है महसूस।
घर संवारने में रीतती औरत
खुद को सजाना भूल जाती है
और पर्याय बन जाती है सुघड़ता का
ऐसे ही आँख में सुरमा लगाते
सोचती है वह
क्या फ़र्क है सुरमे और औरत में?
बहुत महीन पीसा जाता है सुरमा
इतना बारीक कि आँख में लगाते वक़्त
चुभे नहीं वह
सिर्फ़ खूबसूरती बढ़ाए आँख की।

मूल्यांकन

कक्षा में विद्यार्थियों को
मेंढकों और चूहों का
डाईसेक्शन करते देखती हूँ।
पास पड़े पैड पर
शीघ्रता से करते नोट
और लिखते जाते
उनके दिल के धड़कने की गति
हृदय का साईज़
और भी बहुत सारे तथ्य।
निधारित नियमों की कसौटी पर
खरा उतरने को जी-जान से तत्पर
उस जीव कि हर शिरा को समझ
समझने को उत्सुक।

देखते-देखते दृश्य बदलता है
और मैं
चूहे के स्थान पर
ट्रे में खुद को
पिनों से जकड़ा पाती हूँ।
विचारमग्न विद्यार्थी
झुका है मेरे ऊपर
उसका डाईसेक्शन करना है
मेरे दिल और दिमाग का
चीर-फाड़ करनी है
मेरी सोच की
और दिखाना है
मैं कितने प्रतिशत सही औरत हूँ?

ट्रे में चिपकी मैं
तृतीय पुरुष सी
कर रही हूँ प्रतीक्षा
अपने ही डाईसेक्शन के परिणाम की।
जब से होश संभाला है
अपने आस-पास की दुनिया को जाना है
खुद को उतना ही उलझा हुआ पाया है
तब कैसे करेगा विद्यार्थी
मेरे विचारों की परख?
मन की परतों को
तह-दर-तह खोलना होगा इसे
तभी तो
तल तक पहुँच पाएगा।
चाहती हूँ, मुझे वह बताए
कि मैं
कितने प्रतिशत पत्नी, माँ और बेटी हूँ।

एफ़-101, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027
फ़ोन: 9899166929



पंत की काव्ययात्रा : विकास और परिणति

प्रोफेसर ओमप्रकाश सिंह

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवियों में श्री सुमित्रानंदन पंत मनोगत सौंदर्य के अन्यतम आस्थावादी कवि हैं। यद्यपि उनके काव्य पर बाह्य संसार की विविध हलचलों एवं रूपरेखाओं का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है, किंतु यह प्रभाव उनके निजी दृष्टिबोध से प्रत्यावर्तित होकर ही व्यंजित हुआ है। सर्वविदित तथ्य है कि उनकी प्रारंभिक पल्लवकालीन रचनाओं में सृष्टि के जड़ एवं चेतन कार्यव्यापारों के प्रति एक बालसुलभ कौतूहल भाव देखने को मिलता है। इसी के साथ-साथ यदि उनकी प्रारंभिक रचनाओं पर गहराई से विचार किया जाय तो मुख्य रूप से ध्यान देने की बात यह है कि वे अपने काव्य-विकास के शैशव काल में भी काव्य रूपों के प्रति सचेष्ट तो हैं ही, साथ-ही-साथ उनकी भाव-चिंतन आदि से संबंधित सारी प्रक्रियायें आत्मग्रस्तता तो नहीं, किंतु आत्मतल्लीनता के वृत्त से ही निःसृत होती हैं। कौतूहल इस बात का उतना नहीं है जितना इस बात का है कि कवि को सृष्टिक का कार्य-व्यापार जैसा दिखाई देता है, वैसा क्यों दिखाई देता है ? शायद यही वह मूल प्रश्न है जिसके उत्तर से पंत के काव्य-प्रतिमाने-उपमा वैचित्र्य आदि-की मूल भूमि का संधान किया जा सकता है। पंत के लिए अंधकार में डूबा हुआ आकाश मात्र तिमिराच्छन्न ही नहीं होता अपितु वह अंधकाराकार अथवा 'तमसाकार' होकर मूर्त होता है-

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार।

आत्मकेंद्रीयता की इसी मनोभूमि से कवि पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में शब्दों के रूप, वर्ण, गंध, लिंग आदि के विषय में अपनी निजी धारणाओं की व्यंजना प्रस्तुत की है। ध्वनि एवं रंगबोध के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों का संक्रमण-अतिक्रमण करते हुए और विभिन्न पदों की

नई अर्थ-व्यंजनायें प्रस्तुत करते हुए देखते-ही-देखते उन्होंने हिंदी काव्य-जगत के जाने-बूझे पदार्थों-की सारी अर्थ-भंगिमा ही परिवर्तित करके रख दी। अंग्रेजी शब्दों के समानान्तर हिंदी शब्दों को रखकर दोनों से संसर्गित ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक अनुषंगों (Associations) की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्होंने शब्दों की विविध रंगीन झांकियां प्रस्तुत कीं। परंपरापोषित शब्दादि संबंधी लिंग धारणाओं को निरस्त करते हुए उन्होंने शब्दों को नए सिरे से स्त्री और पुरुष का जामा पहनाया। 'प्रभात', 'समीर', 'बूंद', 'कम्पन' आदि शब्दों का लिंग परिवर्तन इसी क्रम में किया गया। (विस्तार के लिए देखें-पल्लव, विज्ञापन पृ ख और ग)

हिंदी काव्योपवन में किशोर कवि पंत ने जब प्रवेश किया तब द्विवेदीयुगीन कवियों के काव्य-संबंधी अथक नवीन प्रयत्नों के बाद भी ब्रजभाषा अपनी संपूर्ण शक्ति और प्रभविष्णुता के साथ हिन्दी काव्य-मंच पर विराजमान थी। खड़ी बोली हिन्दी के शब्द, वाक्य, छंद आदि ब्रजभाषा की तुलना में अत्यंत ही कर्कश और खुरदरे जान पड़ते थे। छंदों की पगध्वनि घड़े में बजते हुए कंकड़ों जैसी जान पड़ती थी। कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा का एक लम्बा इतिहास सुरक्षित था। उसके शब्द, पद-विन्यास मंजे-संवरे, तराशे और कटे-छंटे थे। दूसरी तरफ खड़ी बोली कविता का न कोई इतिहास था और न कोई परंपरागत रिक्थ ही उसे सुलभ था। अधिकांश समर्थ कवियों की सारी काव्य-शक्ति भाषा को मसृण बनाने में ही चुक जाती थी। इसके बावजूद भी ब्रजभाषा से स्पर्धायोग्य कहला सकने वाला कोई भी खड़ी बोली हिंदी का कवि सामने न आ सका था। ऐसे समय में पंत ने अपनी मार्मिक भावानुभूति से पगी हुई कोमलकांत पदावली के सन्निवेश द्वारा खड़ी बोली की तथाकथित

सारी कर्कशता छांटकर किनारे रख दी और ब्रजभाषा के धुरंधर धनी धोरियों से भी यह कहलावा लिया कि खड़ी बोली में भी मधुर कविता हो सकती है। पहली बार हिंदी के सहृदय पाठकों और आलोचकों ने यह स्वीकार किया कि खड़ी बोली के शब्द भी मिठास और हृदय के निगूढ़ अन्तस्तलों को संस्पर्शित करने में ब्रजभाषा से किसी भी प्रकार कम समर्थ नहीं है। इसी संदर्भ में कवि पंत ने नवजागरण की विस्तृत भूमि पर खड़े होकर हिंदी कविता की संकुचित भावभूमि पर भी कड़ी चोट की। उन्होंने दिखा दिया कि काव्यात्मक मूल्यों से रणित ब्रजभाषा पदावली का समस्त काव्य संसार अति सीमित है। “यहां कूल, केलि, कछार, कुजों में सर्वत्र असुप्त बसन्त शोभित है। बीचों-बीच बहती हुई नीली यमुना में, उसकी फेनोज्ज्वल चंचल तरंगों सी, असंख्य सुकुमारियां श्याम के अनुराग में डूब रही हैं। वहां बिजली छिपे-छिपे अभिसार करती, भौरै संदेश पहुंचाते, चांद चिनगारियां बरसाता है। वहां छहों ऋतुओं कल्पना के बहुरंगी पंखों में उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नंदन वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस ‘चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरत्नका’ के आसपास ‘आनन ओप उजास’ से नितप्रति पूनो ही रहती है। वहां सौंदर्य अपनी ही सुकुमारता में अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र-मंडल उसके श्री चरणों पर निछावर हो नखावलि बन गया, अलंकारों की झनक ने देह-वीणा से फूट कर रूप को स्वर दे दिया है। वहां फूलों में कांटे नहीं, फूल ही विरह से सूखकर कांटों में बदल गए हैं; - वह कल्पना का अनर्वाचनीय इंद्रजाल है, प्रेम के पलकों में सौंदर्य का स्वप्न है, मर्त्य में हृदय में स्वर्ग का बिम्ब है, मनोवेगों की अराजकता ही सच है ‘पल पल पर पलटन लगे अंग अनूप’ ऐसी उस ब्रजबाला के स्वरूप का कौन वर्णन कर सकता है। (पल्लव, प्रवेश पृ. 3-4)। इन पंक्तिनयों के माध्यम से पंत ने स्पष्ट किया कि ब्रजभाषा के कवि स्त्री की बावन अंगुल देह और कुछ ही मीलों में संकेद्रित कुंजों की छाया छोड़कर बाकी संसार के अन्य क्रिया व्यापारों से आंखें चार करने में कतराते हैं। यहां यह तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य है कि पंत ने ब्रजभाषा के ऐसे रीतिवादी कवियों के साथ-साथ भक्त कवियों-सूर और तुलसी- को भी घसीट कर अन्याय

किया था। दोनों की भावधारा और विचारधारा में महान अंतर था। भक्त कवियों और रीतिवादियों को एक साथ रखकर पंत ने स्वयं अपने ज्ञान की एतदविषयक सीमा निर्धारित कर दी है। यदि इसके लिए उनकी कटु आलोचना नहीं हुई तो मात्र इस कारण कि खड़ी बोली की नवीन प्राण प्रतिष्ठा के लिए किए गए उनके इस प्रयत्न को ध्यान में रखकर शायद आलोचकों ने उन्हें क्षमा कर दिया। वैसे इस संदर्भ में निराला और नंददुलारे वाजपेयी के विचार द्रष्टव्य हैं।

छंद, लय, अलंकार, हिंदी की भाव-प्रकृति आदि को लेकर पंत ने जो तमाम बातें ‘पल्लव’ की भूमिका में कहीं उसमें उन्होंने अपने समकालीन महाकवि और समर्थ प्रतिद्वन्द्वी सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’ पर भी गंभीर प्रहार किये। निराला द्वारा इसके प्रतिषेध में लिखी गई ‘पंतजी और पल्लव’ शीर्षक रचना इस संदर्भों की एक जीवंत स्मारिका बनकर सामने आई। यहीं से हिंदी की प्रकृति-प्रभाव आदि को लेकर ‘आखर अरथ अलंकृत नाना, छंद प्रबंध अनेक विधाना’ के व्यापक क्षेत्रों में दो प्रकार की भाव दृष्टियों का लंबा खींचने वाला संघर्ष दिखलाई देता है। कहना न होगा कि परवर्ती हिंदी कविता दोनों ही भाव-बोधों-दृष्टि बोधों से टकराती उलझती हुई और दोनों से ही रस ग्रहण करती हुई आगे बढ़ी है। ऊपर निर्दिष्ट कतिपय आरोपों-प्रत्यारोपों के बावजूद यह निर्विवाद है कि खड़ी बोली का काव्य सुलभ भाषा बनाने के क्रम में पंत का योगदान अन्यतम है-

सिखा दो ना हे मधुप कुमार
मुझे भी अपने मीठे गान।

अथवा

न जाने तपक तड़ित से कौन
मुझे तब इंगित करता मौन।

अथवा

शैल में जलद जलद में शैल
शैल पावस के प्रश्नोत्तर।

इस तरह की कोमलता पंत से पूर्व खड़ी बोली के लिए एकदम अजनबी थी।

भाषा को ऐसा माधुर्य पंत ने ही प्रदान किया। निराला ने अपन विराट, संश्लिष्ट चित्रों के द्वारा खड़ी बोली कविता को पहले ही प्रबंधात्मकता ग्रस्त इतिवृत्तात्मक सीमाओं से ऊपर उठाया। आधुनिक हिंदी कविता इन दोनों कवियों के अथक प्रयासों से समृद्ध होकर समर्थ बनी।

आगे चलकर पंत का यह कौतूहल भाव तिरोहित होता हुआ दिखाई देता है। अब वे विविध विचार क्षेत्रों से बोध ग्रहण करने लगे। छायावादी कवियों में वही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने गद्य में वक्तव्यात्मक रूप से यह घोषित किया कि छायावादी कविता के दिन अब बीत चुके हैं। (इस संदर्भ में पंत द्वारा संपादित 'रूपाभ' का प्रथम अंक द्रष्टव्य है।) इस दौर में पंत पर समाजवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ग्राम्या और युगवाणी की रचनों इसी दौर का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस दौर में कवि सुंदर लगने वाली वस्तुओं-व्यापारों के दायरे से बाहर निकलकर लंबे-चौड़े संसार का यथातथ्य दर्शन करने को आतुर जान पड़ता है। वह भारत के दैन्य दुर्भिक्षग्रस्त गांवों का, वहां की रूढ़ियों का, अर्थशून्य विधि-विधानों का प्रथम बार इतने नजदीक से अवलोकन करता है। इस अवलोकन से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया उसे सहज ही अपने पूर्व काव्य-संसार से बहुत दूर खींच ले जाती है। कवि की अनुभूति है-

इन कीटों का भी मनुज बीज
यह सोच हृदय उठता पसीज।

और

मानव प्रति मानव की विरक्तिज
उपजाती मन में क्षोभ खीझ।

यह क्षोभ-खीझ क्यों? क्योंकि कवि की दृष्टि में-

सुंदर है विहग सुमन सुंदर
मानव तुम सबसे सुंदरतम।

सृष्टि के सबसे सुंदर तत्व मानव की यह दुर्दशा उसे विह्वल और बेचैन तो करती है किंतु वह उन्हें अपनी हार्दिक सहानुभूति नहीं दे पाता। मध्यकालीनता में लिपटी

हुई रूढ़ियों, कुसंस्कार आदि की छायाओं को अत्यंत धिनौनी और त्याज्य समझकर, इनसे ग्रसित जनता से कवि अपना तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता और स्पष्टतः घोषित करता है कि-'मैं इन्हें केवल अपनी बौद्धिक सहानुभूति ही दे सकता हूँ।' गांवों की अशिक्षा, रूढ़िग्रस्तता, गंदगी आदि के मूर्तिमान प्रतीक एक लंबे-चौड़े बूढ़े को देखकर वह सोचता है कि -

इस खंडहर में बिजली सी
उन्मत्त जवानी दौड़ी होगी।

लेकिन तुरंत अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करता है-

अन्धकार की गुहा सरीखी
इन आंखों से डरता है मन।

और अंततः उसकी स्मृति में शेष रह जाता है-

काली नारकीय छाया निज
छोड़ गया वह मेरे भीतर।
पैशाचिक सा कुछ: दुखों से
मनुज गया शायद उसमें मर।

यद्यपि कवि गंवई जनतास से तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता, उसे केवल बौद्धिक सहानुभूति ही दे पाता है पर उसके सौंदर्य प्रिय स्वाभाव के सीमा का निर्धारण इन पंक्तियों में गहरे पैठकर करना चाहिए। कवि के इसी सौंदर्य बोध ने उसे मानव जीवन को उच्चतर और सुंदर से सुंदर बनाने की तरफ उन्मुख किया। पंत गांवों की और लौटने की बात नहीं करते, वे गांव को स्वर्ग भी नहीं कहते और न ही गांव का चित्रण आह-वाह की शैली में करते हैं। इसका सीधा सा कारण है कि वे गांव की रूढ़ियों, कुरीतियों, अंधविश्वासों, परंपराओं, कुसंस्कारों आदि से गहरे परिचित हैं। इसीलिए वे गांवों का दोहरा विकास चाहते हैं। वे विज्ञान की मदद से गांवों के बाहरी और कला के अनुशीलन से उसके आंतरिक जीवन को विकसित करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि वैज्ञानिक अनुसंधानों से लाभान्वित हो लोग अपने जीवन को भौतिक समृद्धि से परिपूर्ण करें-

जड़ नहीं यंत्र : वे भाव रूप : संस्कृति द्योतक :

वे विश्व शिरो, निखिल सभ्यता के पोषक।
रेडियो, तार औ फोन, वाष्प, जल, वायुयान,
मिट गया दिशावधिका जिनसे व्यवधान मान।

* * *

जीवन सौंदर्य प्रतीक यंत्र : जन के शिक्षक :
युग क्रांति प्रवर्तक औ भावी के पथ दर्शन।

परंतु इसका यह आशय कदापि नहीं कि पंत
भौतिक समृद्धि को ही सब कुछ मानते हैं। वे विज्ञान की
शाक्ति से परिचित हैं, उसकी वकालत भी करते हैं पर
विज्ञान के मादक दोषों से भी अपरिचित नहीं हैं-

मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय।
चर्चित उसका विज्ञान ज्ञान : वह नहीं पचित :
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित।

इसलिए वे बार-बार समझाते हैं-

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।
आज वृहत् सांस्कृति समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग-युग की होना है नव निर्मित।

उसका तो एक ही सपना है -

संस्कृत हो सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुंदर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव-हो जीवन निर्माण काज।

रूढ़ियों और कुसंस्कारों में जकड़ा हुआ ग्रामीण
पुरुष पंत हो चाहे जैसा लगा हो, वे उसे अपनी पूर्ण
सहानुभूति दे पाए हों या न दे पाए हों, पर जनता के
स्वच्छंद आमोद-प्रमोद और व्रत उत्सवों के प्रति उनके
उद्गार सहानुभूतिपूर्ण और चैतन्य हैं-

जन पर्व मकर संक्रांति आज
उमड़ा नहान को जन समाज।

इतना ही नहीं, लोकधर्म को कवि प्रसन्नता के
साथ स्वीकार करता हुआ उससे तुरंत तादात्म्य स्थापित
कर लेता है। धोबियों के नृत्य का एक चित्र देखिए-

उड़ रहा ढोल धा धिन धा तिन,
औ हड्डुक घुडुकता ढिम ढिम ढिम
मंजीर खनकते खिन खिन खिन
मदमस्त रजक होली का दिन
टुमुक गुजरिया हरती मन।

कवि केवल इस नृत्य का चित्र ही नहीं उपस्थित
करता। इस नृत्य के परिपार्श्व में गुजरिया की जो दुखद
स्थिति छिपी हुई है, वह उसे भी व्यक्त करता है-

असमय ही गल जाता है उसका यौवन।

गांवों की सड़ी-गली, गंदी रूढ़ियों से लेकर सरकारी
दमन तक कवि पंत की दृष्टि न समाज के रन्ध्र-रन्ध्र को
बेधकर विकसित होती है। किसान का एक चित्र देखिए-

बिका दिया घर द्वार, महाजन
ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी।
रह-रह आंखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरथों की जोड़ी।।

अत्याचार और उसको भोगने की व्यथा के साथ
लिपटी हुई घातक रूढ़ियों को भी देखें-

घर में विधवा रही पतोहू,
लछमी थी, यद्यपि पति घातिन।
पकड़ मंगाया कोतवाल ने,
डूब कुं में मरी एक दिन।

उसकी मृत्यु पर ससुर की प्रतिक्रिया-

खैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती।
पर जवान लड़के की सुध कर
सांप लोटते, फटती छाती।

इन सबके साथ-साथ खेती-किसानी की दुनियां
का मार्मिक-सजीव चित्रांकन करने में भी पंत अन्यतम है।
ऐसे कुछ उदाहरण लें-

1. गंजी को मार गया पाला,
अरहर के फूलों को झुलसा।
हांका करती दिन भर बंदर
अब मालिन की लड़की तुलसा।

2. बालू के सांपों से अंकित,
गंगा की सतरंगी रेती।
सुंदर लगती सरपत छाई
तट पर तरबूजों की खेती।

3. पीले मीठे अमरूदों में
अब लाल-लाल चित्तियां पड़ीं।
पक गए सुनहले मधुर बेर,
अंवली से तरू की डाल जड़ी।

केवल यही नहीं-

उड़ती भीनी तैलाक्त गंध
फूली सरसों पीली पीली।

इस दौर में पंत ने हिंदी कविता को तराश कर अल्पप्राण तुतलाती बालिका से कटे-छंटे मुहावरे बोलने वाली, संतुलित अंगयष्टिलयों वाली, कमनीय युवती तो बनाया ही, सबसे बड़ा कार्य यह किया कि काव्य-बोध के क्षेत्र में श्रव्य और चाक्षुष बिम्बों से बहुत ऊपर उठकर ग्राणेन्द्रिय ग्राह्य बिम्बों के रूपांकन का दुःसाध्यसंभव-सा कार्य कर दिखाया। खेतों में फूली सरसों को देखना, उसका वर्णन करना, हवा का मर्म सुनना और शब्दों में बांध देना कुछ कठिन न था पर उससे बंधकर उड़ने वाली गंध का कविता में चित्रण कर दिखाना ऐसा कार्य था, जिसके लिए पंत सदैव स्मरण किए जांगे।

यहां खास तौर से ध्यान देने की बात यह है कि कवि को गांव की रूढ़ियां, मध्यकालीन कुसंस्कार आदि अप्राप्य हैं, किन्तु वह किसी प्रचलित विधि-निषेध के दायरे में बंधा हुआ नहीं हैं। उसकी कविताओं में ग्राम्यजनों का स्वाभाविक सरस प्रेमोउल्लास स्वकीया-परकीया का बांध तोड़कर सहज रूप से बह उठता है। दायरे में बद्ध नहीं है। ग्रामीण जनों की स्वाभाविक सरलता से पंत खूब गहरे परिचित थे। ठिठोली करती हुई विवाहित स्त्री युवक से कहती है-

सैया मेरे कामधेनु से,
देवर मेरे गौ से।
जेठ बैल से हैं मतवाले,
ससुर एक में सौ से।

और

अप्रैल, 2021 - एक

तू प्यासा तो खोज कहीं,
जलधार मूढ़ वकध्यानी।

और अल्हड़ युवक का जवाब-

बहती गंगा छोड़ कहां जाऊं,
धनि, क्या न सही है।

* * *

मेंहदी पिसती सिल में,
टूट रही तेरी रंगत दिल में।

मन उड़ता पांखों में

सुआ घूमता वन-वन,

तू घूमा करती आंखों में।

इस दौर में कवि पंत सामाजिक यथार्थवाद की विचारधारा से पूर्णतः संपृक्त दिखलाई देते हैं। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने समाजवाद के सिद्धान्तों के भीतर से रचना न निकालकर रचना के भीतर से सिद्धान्तों को निकाला है। यही वह मार्मिक तथ्य है जिसकी परवर्ती हिंदी कविता में भरपूर उपेक्षा हुई है।

पंत के वैचारिक दृष्टिकोण में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। यही कारण है कि वह नहीं !के। इसके बाद दार्शनिक ऊहापोह का एक लम्बा सिलसिला प्रारंभ होता है, जिसमें 'उत्तरा', 'अणिमा', 'स्वर्णधूलि' से होते हुए वह 'पतक्षर एक भावक्रांति' तक पहुंचते हैं। यहां तक आते-आते कवि का दिल-दिमाग और दुनिया बदल गई। अब वह जो जैसा होना चाहिए, उस रूप में ही देखने लगता है। 'माधव-माधव रटते-रटते राधा हुई मधार्ई' वाली स्थितिति आ पहुंची। यद्यपि 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' जैसी रचनाओं पर अरविंद दर्शन का पर्याप्त प्रभाव लक्षित किया जा सकता है किंतु इन रचनाओं में श्री अरविंद का दर्शन अपने मूल रूप में ज्यों-का-त्यों उभर नहीं पाया है। वह पंत का अपना विशिष्ट जीवन दर्शन बनकर अंकित हुआ है। श्री अरविंद मनुष्य की विकसित अति चेतना की बात करते थे। पंत के यहां यह अतिचेतना सूक्ष्म सौंदर्यावलोकन और अपने ढग की एक विशिष्ट दार्शनिक अनुभूति बनकर सामने आई है। यहां यथार्थ जगत की सारी चीजें परिवर्तित होकर वायवीय, काल्पनिक और ऐन्द्रजालिक रूप में उपस्थित होती हैं। कविताओं में वे जो कुछ भी निर्मित करते हैं, उसके सारे

उपकरण यथार्थजगत के न होकर कल्पना से प्रसूत हैं। इस संदर्भ में एक उदाहरण पर्याप्त होगा –

वहां एक अप्सरी स्वर्णतन चंद्रातप से निर्मित
भाल भृकुटि स्त्रुति चिबुक नासिका जिसके सतत निरूपमित।

यहाँ जिस अप्सरा की कल्पना की गई है, उसका पूरा शरीर हाड़-मांस की न होकर चंद्रातप जैसी वायवीय वस्तुओं से निर्मित है। इसके बाद भी कवि उसे सतत निरूपमित ही मानता है। यहां यह साफ-साफ दिखलाई देता है कि पंत के भाव-जगत में कुछ ऐसी चीजें घूम रही हैं, जिन्हें व्यक्त करने के लिए उनके पास ठोस उपकरणों का अभाव है। अपने इसी अभाव को कभी वह अरविंद दर्शन और कभी उपनिषदों की शैली में व्यक्त करना चाहते हैं। यह वायवीयता इन रूपों में भी देखी जा सकती है-

उत्तर दिशा की ओर मत जाना लाडली
वहां देहमान लेकर न जाना कामिनी।
वहां अप्सर रहते हैं,
वे तुम्हें मोह लेंगे।

उत्तर दिशा की ओर मत जाना भामिनी
क्योंकि वहां कोई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं हैं।

यहां सारा सांसारिक अनुभव और वस्तुबोध एक विराट शून्य में परिवर्तित हो गया है। पंत जी के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से हरिवंशराय बच्चन ने सही कहा है कि –

हंस जो चुगने गए नभ-मोतियों को
और फिर लौटे न भू पर।

लेकिन इसके साथ-साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पंत उन साधारण कवियों में नहीं हैं जिनकी काव्य-यात्रा एक सीधी मंजिल से उठकर किसी दूसरी मंजिल पर अवसान प्राप्त कर ले। 'पल्लव' के मांसल सौंदर्यबोध और 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' तथा 'पतझड़ एक भवक्रांति' की वायवीय रचना जगत के अंतराल में उन्होंने ऐसी कृतियों की भी रचना की है जो इस यथार्थ जगत के सुख-दुःख, ईर्ष्या-द्वेष, घृणा और क्रोध जैसी चरम मानवीय संवेदनाओं से जुड़ी हुई हैं। इस संदर्भ में पंत के महाकाव्य 'लोकायतन' की चर्चा करना आवश्यक है। 'लोकायतन' एक प्रकार से पंत और

उनके सहयोगियों-विरोधियों की साहित्य-कथा ही है। इस महाकाव्य में गांधीजी एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन तो करते ही हैं, साथ-ही-साथ इसमें माधों गुरु के रूप में निराला, वागविलास के रूप में डॉ. रामविलास शर्मा और वंशी के रूप में स्वयं पंत भी विद्यमान हैं। निराला से उनके प्रेम और विरोध का द्वैत भाव आजीवन चलता रहा। इस संदर्भ में आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला का पक्ष लेकर पंत पर अनवरत कड़े प्रहार किए। वास्तविक जीवन में चलने वाला यह संघर्ष 'लोकायतन' में पूरे विस्तार से काव्यरूपकों के अंतर्गत चित्रित हुआ है। पंत के इस चित्रण को किसी भी वास्तविक जीवन-चरित से अधिक यथार्थवदी कहा जा सकता है। दुर्भाग्य की बात है कि हिंदी के पाठक ही नहीं, रचनाकार और आलोचक भी इस तथ्य के परिज्ञान से लगभग अपरिचित से हैं। अगर वे इस कृति से परिचित होते तो पंत पर भावशून्यता के जो आरोप लगाए गए हैं, वे न लगाए जाते। पहले भी कहा गया है कि 'लोकायतन' में पंत ने निराला को माधो गुरु, रामविलास शर्मा को वागविलास और स्वयं को कवि वंशी के नाम से अभिहित किया है।

इस महाकाव्य में पंत ने माधो गुरु (निराला) का जो रूप चित्रित किया है, वह एक ऐसे कवि का रूप? है, जिसे तांत्रिक सिद्धियां प्राप्त हैं और वह स्वभाव से क्रूर, दंभी और उद्वण्ड हैं –

गिरा जो पंक गर्त में घोर
उसे सद्भाभावों से क्या काम?
करूं जब तुमको भी निर्मूल
तभी सार्थक मेरा गुरूनाम।
भरूंगा मां का खप्पर रिक्त
तुम्हारा कर बलिदान घमण्ड,
स्वगत बकते करते भयभीत
क्रूर दाम्भिक माधो उद्वंड।

निराला के स्वभाव के बारे में यहां कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वविदित तथ्य है कि निराला से दूसरों का दुःख देखा नहीं जाता था। इसके बारे में महादेवी वर्मा या निराला के साथ अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए अनेक साहित्यकारों ने लिखा है। पर

दुःखकातर निराला जो अपने शरीर का वस्त्र तक उतारकर निरीहों में बांट देते थे, उनके ऐसे कार्यों को पंत जनमत को प्रभावित करने का स्वांग-मात्र मानते हैं-

मोहते गुरु रख शत छल
असत का होता गूढ़ स्वभाव।
सरल था वंशी, सहृदय प्राण
नमन में था भय द्वेष दुराव।

पंत की यह भी मान्यता है कि निराला साहित्यिक दुनिया में इस तरह का वातावरण बना रहे थे कि पंत को पूर्णतः तिरस्कृत और बहिष्कृत कर दिया जाए -

जनों को करते गुरु संकेत
न वंशी को दें सूची-स्थान,
मुक्त बहुजन मुख चर्चित झूठ
स्वयं बन जाती सत्य प्रमाण।

पंतजी के अनुसार इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा की भूमिका इस प्रकार की थी -

जिसे करने में जग की लाज
किया उसको अनुगत ने पूर्ण,
मुखर कर स्वर विरोध का तीव्र
उगलता नाभि-कीट अहमपूर्ण।

डॉ. रामविलास शर्मा ने पंत के विरुद्ध अनेक ध्वंसात्मक लेख लिखे हैं। डॉ. शर्मा के उन लेखों को पढ़ते समय हमें कवि पंत की उपरोक्त पंक्तियों और उनके द्वारा किये गए आक्रमणों पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

यहां जो बात विशेष रूप से ध्यातव्य है और हिंदी साहित्य में जिस बात पर आज तक एकदम चर्चा नहीं हुई है, वह यह है कि हिंदी में मार्क्सवाद के सबसे बड़े पुरोधा डॉ. रामविलास शर्मा को पंत तांत्रिक मानते थे। उनका कहना है कि निराला सारी तांत्रिक सिद्धियों के प्राप्त करने के बाद भी योगभ्रष्ट हो चुके थे। वे किसी भी तंत्र का प्रयोग स्वयं करने में असमर्थ थे। उन्हें किसी पवित्र माध्यम की तलाश थी। रामविलास शर्मा उनके ऐसे ही माध्यम थे। रामविलास शर्मा को माध्यम बनाकर गुरु ने पंत के चेतस को ध्वस्त कर दिया था -

अप्रैल, 2021 - एक

शिष्य को बना जघन्य निमित्त,
किया गुरु ने कवि चेतस ध्वस्त।

पंत की चेतना पर आघात करने के लिए निराला अपने साथ रामविलास को लेकर उनके केंद्र पर आए। औपचारिक बातचीत के बाद विदा होते समय पंत ने निराला से हाथ मिलाया। निराला ने पंत को संकेत किया कि वे उनके शिष्य (रामविलास शर्मा) से भी हाथ मिला लें-

बरत फिर, वंशी का कर थाम,
विदा होने का शिष्टाचार,
किया प्रेरित गुरु ने कविचित्त
शिष्य को भेंटे इसी प्रकार।
आत्म-विस्मृत कवि ने विधि मूढ़
मिलाया वागविलास से हाथ-
न्याय पर करता था जो शोध
जिसे लाए थे गुरु निज साथ।

पंत के हाथ मिलाते ही निराला ने कुत्सित अभिचार किया। और -

शिष्य कर छूते, विद्युद्देग
धंसा अंतर में तामस-तीर,
* * *

पंत मानते थे कि उनकी चेतना का हरण करने के बाद ही निराला 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' जैसी काव्यकृतियों का सृजन करने में सफल हुए और पंत इन वर्षों में निर्जीव और अशक्त से किनारे पड़े रहें। आगे चलकर अल्मोड़ा में स्वामी चिन्मयानंद ने अपने योगबल से पंत को निराला के तांत्रिक प्रभाव से मुक्त किया और उन्हें उनकी चेतना वापस दिलाई। इस बीच की अवधि में निराला के साथ-साथ रामविलास शर्मा ने भी मार्क्सवाद की लाठी से पंत को पूर्णतः चकनाचूर कर दिया -

वागविलास ने उत्तर अखाड़े में
सैद्धान्तिक लाठी से लूटा यश।

पंत केवल प्रकृति, सौंदर्य और दार्शनिक भावों

के ही कवि नहीं हैं, वे व्यक्तिगत जीवन में भोगे गए क्षणों का भी विविध संदर्भों में भरपूर चित्रण करने वाले रचनाकार भी हैं। रामविलास शर्मा ने 'निराला की साहित्य-साधना' के पहले खंड में 'पंत और निराला' नामक अध्याय में पंत की इन बातों का खंडन करते हुए कड़ा जवाब दिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार निराला मानसिक विक्षेप और न्यूरोसिस के मनोरोग से ग्रस्त हुए थे, उसी प्रकार पंत भी मनोरोग ग्रस्त थे। मानसिक रोग से पीड़ित होकर ही पंत ने अपने ऊपर तंत्र-प्रयोग की कल्पना की है। रामविलास शर्मा ने पंत से हाथ मिलाने की घटना को सही बताया है। इस छोटे निबंध में 'लोकायतन' जैसे वृहद् काव्य और 'निराला की साहित्य साधना' जैसी अतिविस्तृत जीवनी की तुलनात्मक अध्ययन संभव नहीं है, किंतु पंत के व्यक्तिमत्त्व और साहित्य के विस्तृत विश्लेषण के लिए यह कार्य अत्यंत आवश्यक है।

काव्य के साथ-साथ पंत की गद्य कृतियां भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उनका गद्य साहित्य प्रायः काव्य-संकलनों की भूमिका के रूप में ही सामने आया है। 'साठ वर्ष एक रेखांकन' और 'छायावाद एक पुनर्मूल्यांकन' जैसी रचनाएं अपवाद भी हैं। जहां तक भूमिका के रूप

में लिखे गए गद्य का संबंध है, उसमें 'पल्लव', 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की भूमिकाओं अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। पंत की रचना प्रक्रिया, भावबोध की दिशा और विचार जगत की ग्राहिका शक्ति आदि को समझने के लिए ये भूमिकाएं सर्वोत्तम कुंजी हैं। 'चिदम्बरा' की भूमिका में पंत ने अपने प्रारंभिक विकास से लेकर प्रौढ़तम काल तक के काव्य विकास को सीढ़ी-दर-सीढ़ी विश्लेषित किया है। इसमें उन्होंने यह बताया है कि उनके भाव जगत में कैसी हलचलें उठती रहती हैं, देश तथा विश्व स्तर पर घटित हो रही घटनाओं और बौद्धिक विमर्श उन्हें किन रूपों में प्रभावित करते रहे हैं तथा ग्रहण और चित्रित करने की उनकी उनकी प्रक्रिया क्या रहीं है। इसमें उन्होंने यह भी बताया है कि आलोचकों ने किस प्रकार उनके वास्तविक आशय को जानबूझकर तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया है। पंत ने उक्त भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि साहित्य के भीतर ऐसी आलोचनाओं का कोई स्थाई महत्व नहीं होता, समय सारा हिसाब बराबर कर देगा। 'चिदम्बरा' की भूमिका के इस एक वाक्य का महत्व पंत के संदर्भों से अलग हटकर भी अत्यंत विस्तृत है। उन्होंने लिखा है कि – "काल ही वह राम-मराल है जिसमें नीर-क्षीर विवेक की क्षमता होती है। "



यह कविता लिखने का समय नहीं है

प्रो.चन्द्रदेव यादव

मज़दूर दिवस पर अमेरिका की येल यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर फ्रैंक स्नोडेन के शोध निष्कर्ष को कोविड-19 भूमंडलीकरण की पहली महामारी है शीर्षक समाचार के अन्तर्गत मुंबई के हिन्दुस्तान टाइम्स ने प्रकाशित किया है इसके लेखक हैं रुद्रनीलसेन गुप्ता उसके प्रमुख बिन्दु हैं—

1. औद्योगिक समाज के अभ्युदय के बाद हर नये मोड़ पर एक महामारी सामने आई। सबसे पहले औद्योगिक क्रांति के बाद इंग्लैंड में तपेदिक की महामारी शुरू हुई जिसे पहले राजरोग कहा जाता था। ग़रीबी और गंदगी से उसका संबंध 19वीं सदी में जुड़ा। फिर प्लेग, कैसर और एड्स जैसी बीमारियाँ आईं। ये सभी महामारियाँ अधिकांशतः पिछड़े समाजों और निर्धनों में फैलीं। अब भूमंडलीकरण के दौर में यह कोरोना महामारी फैली है।
2. यह पहली महामारी है जो संपन्न लोगों के बीच से आई और वहाँ से नीचे फैली। अब यह गरीबों और श्रमिकों के लिए काल बन गई है। गाँव तब तक इससे अछूते रहे जब तक संक्रमित लोगों को वहाँ नहीं पहुँचाया गया। लेकिन गाँवों में इसका प्रसार अब भी कम है। सम्पन्नता के मानचित्र में गाँवों की हैसियत बहुत कम है न!
3. कोरोना को लेकर विचारधारात्मक संघर्ष शुरू हो गया है। एक मत यह प्रचारित हो रहा है कि चार्ल्स डार्विन का सिद्धांत सही हो रहा है—ताकतवर ही जीएगा। महामारियाँ कमजोरों को धरती से हटाने के लिए आती हैं। इससे अधिक निर्लज्ज और अमानवीय कोई नज़रिया नहीं हो सकता—जबकि दूसरी ओर फ्रैंक स्नोडेन जैसे बुद्धिजीवियों का

तथ्यों पर आधारित वैज्ञानिक नज़रिया है कि महामारियाँ याद दिलाती हैं कि हम प्रकृति के विरुद्ध विकास की अवधारणा पर चल रहे हैं। मनुष्य के द्वारा प्रकृति के विरुद्ध का नज़रिया अपनाने का यह सहज परिणाम है। इसे चेतावनी के रूप में लेना चाहिए और विकास की अपनी धारा को न केवल प्रकृति के अनुकूल बनाना चाहिए बल्कि मनुष्य के लिए भी हितकर बनाना चाहिए।

4. कार्ल मार्क्स ने गाँधी से चौथाई सदी पहले कहा था कि पूँजीवाद केवल मनुष्य का शोषण नहीं करता, प्रकृति का भी शोषण करता है। इसके परिणाम बड़े घातक होंगे। उनके सामने केवल 1830 के बाद लंकाशायर और इंग्लैंड की मज़दूर बस्तियों में फैली टी बी की महामारी थी। आगे की शताब्दियों और घटनाओं ने इसे सिद्ध किया।

ये कुछ अवधारणात्मक बातें हैं, जिनका ज़िक्र मैंने शुरू में ही कर देना मुनासिब समझा। इनसे कोरोना जैसी महामारी के प्रसार को समझने में आसानी होगी। निस्संदेह इस महामारी में गरीब और श्रमिक खामखाह पिस रहे हैं। और यह सचमुच मनुष्य के प्रकृति विरोधी नज़रिये का परिणाम है। इस महामारी से दुनिया त्रस्त है और वह पंगु हो गई है, फिर भी दुनिया का कारोबार (औद्योगिक कारोबार) ठप हो जाने से प्रकृति में कितना सकारात्मक परिवर्तन हुआ है, इसे हम सभी महसूस कर रहे हैं। खुशी की बात तो यह है कि ओज़ोन छिद्र भी बंद हो गया है।

सोशल मीडिया से जुड़े होने के कारण उसकी तमाम पोस्टों को देखने और पढ़ने का अवसर मिलता रहा है। इन पोस्टों में कुछ कविता वाली पोस्ट भी होती

थीं। उन पर और उन पर की जाने वाली टिप्पणियों पर भी नज़र थी मेरी। मेरी या किसी और की कविता पर झल्लाहट व्यक्त करते हुए किसी यूज़र ने लिखा था कि घर बैठे कविता करना आसान है। अगर मज़दूरों के प्रति इतनी ही सहानुभूति है तो उनके पास जाकर सीधे उनकी मदद क्यों नहीं करते? निस्संदेह वह व्यक्ति काव्य-कर्म को निठल्ले लोगों का शगल मानता होगा, तभी तो उसकी दृष्टि में कविता लिखना फ़ालतू का काम है। किसी घटना, आन्दोलन या महामारी के समय सौ-पचास ग्राम झूठ-मूठ का आँसू उँड़ेल कर वाहवाही बटोर लो। परदुखकातरता तो जैसे इस समय के कवियों में है ही नहीं, वे ज़माने और थे जब कवि लोग दूसरों के सुख-दुःख में दौड़ते-दौड़ते हलकान हो जाया करते थे। इसलिए भी मुझे लगता है कि यह कविता लिखने का समय नहीं है।

एक दिन मैं अशोक वाजपेयी को पढ़ रहा था कभी-कभार कालम में। इन घर-घुसे दिनों में लेखक क्या करें? शीर्षक लेख में उन्होंने कई महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत किया है। जैसे—

1. विपुल साहित्य तो पहले से ही इतना लिखा गया है कि वह आपको जीवन से जोड़ने का काम कर सकता है जिसके जीवित स्पंदन से इस समय आप बहुत दूर फ़िंक गए हैं।
2. ज्यादा मुश्किल सवाल यह है कि लेखक क्या करें? बहुत से लेखक चाहते होंगे कि इस समय वे चुप ही रहें और अपनी अच्छी-बुरी रचनाओं का बोझ या ढेर बनाने-बढ़ने से बाज आयें। दूसरे लेखक इसलिए लिखते हैं कि उन्हें ऐसा करना ज़रूरी लगता है। वे अपने समय और समाज की तलाश जारी रखना चाहते हैं। उन्हें किसी सलाह की ज़रूरत नहीं होती। वे इस वैश्विक महामारी की उपेक्षा नहीं कर सकते।
3. अन्य नागरिकों की तरह घर में बंद लेखक अपने विचार, अनुभव और भावों की अभिव्यक्ति कैसे करें? क्या इसके लिए उनके पास भाषा-शैली-दृष्टि की पर्याप्त सम्पदा है? क्या उन्हें कुछ नया

ईजाद करना होगा, नये ढंग से सोचना और भाषा को बरतना होगा?

4. इस समय इलेक्ट्रॉनिक मीडिया सच्चाई के बहुत बड़े हिस्से को छिपा कर पालतूपन और स्वामिभक्ति में लगी हुई है और सामान्य नागरिक अत्यंत विकृत, अप्रामाणिक और झूठ-भरी सूचनाओं से दिग्भ्रमित हो रहे हैं। वे घृणा और अफ़वाहें फैला रहे हैं, ऐसे में लेखकों का दायित्व क्या है? सचाई पर टिके रहना और किसी लालच या दबाव में न डिगना नागरिक अपेक्षा है और नैतिक ज़िम्मेदारी भी।
5. एक समस्या है, लेखक का सच दूसरों से प्रामाणिक कैसे है? प्रामाणिकता कैसे तय होगी? पहला—वास्तव में लेखक अपने सच को पूरा या परम सत्य मानने-मनवाने का कोई हठ नहीं कर सकता। साहित्य का सत्य हमेशा संशयग्रस्त होता है। दूसरा—सच्चाई कितनी भी विद्रूप क्यों न लगे, उसका बखान हमेशा मुक्तिदाई होगा। वह घृणा और भेदभाव, अलगाव और हिंसा का प्रतिरोध होगा। वह संसार से हमारे स्वाभाविक अनुराग को और गहरा करेगा। तीसरा—लेखक मानव-विरोधी, स्वतंत्रता-समता-न्याय-विरोधी शक्तियों की शिनाख्त करते हुए अपनी ज़िम्मेदारी भी तय करेगा।
6. और लेखक हमें याद दिलाता रहता है कि ऐसे कठिन समय में भी सहज जीवन, गर्माहट भरे मानवीय संबंध और भावनाएं न तो निश्चेष हुए हैं और न ही अप्रासंगिक। साहित्य का काम आलोक देना न भी माने पर भाषा की सर्जनात्मकता अपने आप में मानवीय आलोक है।

मैं अशोक वाजपेयी की कविताओं से ही शुरू करता हूँ। उनकी नज़र में 'बहुत से लेखक चाहते होंगे कि इस समय वे चुप ही रहें और दूसरे वे, जिनको लिखना ज़रूरी लगता है, लिखें। क्योंकि वे अपने समय और समाज की तलाश जारी रखना चाहते हैं। वे इस विश्वव्यापी और लम्बी चल रही महामारी की उपेक्षा नहीं कर सकते। वे पता नहीं कौन-से लेखक होंगे जो फ़ौरी तौर पर कुछ लिखने से बच रहे होंगे। क्या ऐसे कुछ

लोग किसी महान रचना के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में होंगे कि जब यह महामारी समाप्त होगी तो वे इस दौर के अनुभवों और स्मृतियों से थोड़ा अलग होते हुए और यथार्थ में कल्पना का मिश्रण करते हुए एक फैंटेसी की रचना करेंगे ताकि उनके कालातीत अनुभवों में आज की समस्याओं को तलाशा जा सके? खैर, समालोचन में प्रकाशित अशोक वाजपेयी की एक कविता है हम अपना समय लिख नहीं पाएंगे क्यों नहीं लिख पाएंगे? उन्हीं से सुनि—

यह ठहरा हुआ निर्जन समय
जिसमें पक्षी और चिड़ियाँ तक चुप हैं
जिसमें रोज़मर्रा की आवाज़ें नहीं सिर्फ़ गूँजें भर हैं,
जिसमें प्रार्थना, पुकार और विलाप सब मौन में
बिला गए हैं,
जिसमें संग-साथ कहीं दुबका हुआ है
जिसमें हर कुछ पर चुप्पी समय की तरह पसर गई है,
ऐसे समय को हम कैसे लिख पाएंगे?
पता नहीं यह हमारा समय है
या हम किसी और समय में बलात आ गए हैं
इतना सपाट है यह समय
कि इसमें कोई सलवटें, परतें, दरारें, नज़र नहीं
आतीं
और इससे भागने की कोई पगडंडी तक नहीं सूझती।
हम अपना समय लिख नहीं पाएंगे।

निस्संदेह कोरोना काल एक विराट त्रासदी का समय है। इसे साइलेंट बुक क्लब की फ्रैंक रिएला (Frank Riela) ने कोरोना अराजकता (corona chaos) कहा है। इस दौर की त्रासदी को किसी एक किताब में लिख पाना संभव नहीं है। हम सबकी नज़रों के सामने शुरु के दो-ढाई महीने में जितनी अमानवीय और विकट स्थितियाँ गुज़री हैं, उन्हें अगर एक-एक कहानी में पेश करना चाहें तो यह कथासरित्सागर या अलिफ़ लैला से भी वृहत् ग्रन्थ का रूप ले लेगा। लेकिन कवि को जो लग रहा है वह अर्थ सत्य है। जीवन में एक अभूतपूर्व सन्नाटा है। शहरों की वीरान गलियों और सड़कों को छोड़ दें तो राष्ट्रीय राजमार्गों, पगडंडियों और रेलवे ट्रैक पर भूख और दर्द का कोलाहल है, और निचाट रेगिस्तान की तरह प्यास का एक तृषित समुन्द्र है और लाखों

कराहते हुए पाँव हैं। क्या इन जगहों पर भी आज की आवाज़ें नहीं, कल की गूँजें भर हैं ?

मैं यहीं पर महेश आलोक की कविता इस व्यवस्था की ऐसी की तैसी का प्रारम्भिक अंश उद्धृत कर देना चाहता हूँ जिसमें बताया गया है कि कविताओं में व्यक्त असहाय मज़दूरों की पीड़ा उनकी वास्तविक पीड़ा से कितनी तुच्छ है—

वह चुपचाप चली जा रही है
राष्ट्रीय राजमार्ग पर
पसीने से लथपथ उसका शरीर
अभी इतना जीवित है
कि हवा भी डर रही है
कि हल्का सा झोंका भी उसकी
जिजीविषा को भंग न कर दे
हवा का शरीर भी ढीला पड़ गया है
वह लगभग निर्लिप्त हो गई है
उसे भूख नहीं लगती, बच्चे को लगती है
पैरों के छाले से उसे दुःख नहीं होता
बच्चा कराहता है और तभी सड़क के
हृदय के दरकने की आवाज़ आती है
जिसकी गूँज से हमारे समय में लिखी गई
तमाम कविताओं की धज्जियाँ उड़ जाती हैं
बच्चे को अपने ब्रीफ़केस पर लटकाये
वह ढो रही है उसे एक वस्तु की तरह

यहाँ भी एक नया मुहावरा गढ़ने की कोशिश की गई है। सवाल उठता है कि मज़दूरों की यह पीड़ा महेश आलोक की अपनी पीड़ा है क्या? मज़दूरों के पैरों के छालों और बच्चे की कराह से बेशक सड़क का दिल दरक गया होगा, किन्तु उस पीड़ा को महसूस करके जिस तरह दूसरे लोग कवितों लिख रहे थे उसी तरह महेश ने भी इस कविता को लिखा होगा।

लेकिन ये मज़दूर अपना गाँव-घर छोड़ कर शहर क्यों आए और फिर शहर छोड़ने को मजबूर क्यों हुए? तो इसका उत्तर हमें भारत के असमान क्षेत्रीय विकास और आर्थिक विषमता के कारणों में मिलेगा। गाँवों और छोटे शहरों में रोज़गार के सीमित साधनों की वजह से एक बड़ी आबादी ने बड़े शहरों और महानगरों की ओर रुख किया। ये दिहाड़ी मज़दूर और निम्नवर्गीय लोग

शहरों में अवांछित बनकर रहे। कुछ की नज़रों में ये लोग शहरी लोगों का हक-हिस्सा छीनकर खाते रहे। जैसे ही लॉकडाउन शुरू हुआ, ये मज़दूर जिस शहर में थे, वहीं फँस गए। इन्हें अपने गाँव-घर जाने का मौक़ा ही नहीं मिला। स्थानीय सरकारों ने उनके खाने-पीने की जैसी व्यवस्था की, वह अपर्याप्त साबित हुई। इसलिए इन प्रवासी मज़दूरों ने पैदल, साइकिल या रिक्शा से अपने गाँव-घर का रुख किया। बाद में लाखों मज़दूर ट्रकों में भेड़-बकरियों की तरह भरकर अपने गाँव जाने पर मजबूर हुए।

हिन्दुस्तान अख़बार के 2 जून, 2020 के अंक में विभूति नारायण राय का एक लेख छपा। शीर्षक था भविष्य गाँव नहीं, शहर ही हैं। उन्होंने लिखा है कि शहरों की ओर पलायन सिर्फ़ आर्थिक कारणों से नहीं होता है। शहर और बाज़ार दलितों और पिछड़ों को मनुष्य की पहचान देते हैं। यानी वर्ण और जाति-भेद सिर्फ़ गाँवों में है, शहर उससे मुक्त हो चुके हैं। और दूसरी बात यह कि शहर की ओर सिर्फ़ दलितों और पिछड़ों ने ही पलायन नहीं किया है, आर्थिक रूप से संपन्न और विपन्न अगड़ों ने भी बड़ी संख्या में शहर का रुख किया है, क्योंकि शहर में उन्हें विकास की वे संभावनों दिखीं जो गाँवों में नहीं थीं और ये गाँवों में अब भी नहीं हैं।

खैर, लेखक ने फ़िराक गोरखपुरी के हवाले से बताया है कि भारत के गाँवों को नष्ट कर देना चाहिए। इनके बने रहने तक देश जहालत, गन्दगी और पिछड़ेपन से मुक्त नहीं हो सकता। इनकी जगह 50 हज़ार से एक लाख की आबादी वाले छोटे नगर बसाने चाहिए, जिनमें मुख्य गतिविधियाँ कृषि आधारित उद्योगों के इर्द-गिर्द घूमती हों। क्या ऐसा संभव है? क्या शहर के हर तबके के लोग जहालत, गन्दगी और पिछड़ेपन से मुक्त हो चुके हैं? राय ने लिखा है कि फ़िराक ने कहा कि पहले इस तरह की ऐतिहासिक बहसें हो चुकी हैं। हिन्द स्वराज्य या ग्राम स्वराज्य और गाँव को लेकर गाँधी के प्रेम पगे अव्यावहारिक आग्रहों पर डॉ. अम्बेडकर ने ज़मीनी यथार्थ से जुड़ी प्रतिक्रिया का भी संकेत किया है। अम्बेडकर ने बताया है कि गाँधी के लिए गाँव स्वर्ग थे और तत्कालीन समाज में जो कुछ कुरूप था वह सिर्फ़ आधुनिक तकनीक की वजह से था। फिर राय की

टिप्पणी है कि अब इस पर बहस करने की ज़रूरत नहीं है कि यदि गाँधी के आदर्श गाँव की परिकल्पना मान ली गई होती तो हमारी खाद्य सुरक्षा का क्या होता? लेकिन अम्बेडकर की प्रतिक्रिया आज भी प्रासंगिक है। अम्बेडकर ने गाँवों को साक्षात् नरक बताया और कहा कि गाँधी अगर 'अच्छूत' परिवार में पैदा हुए होते तो उन्हें इस स्वर्ग की असलियत का पता चलता।

विभूतिनारायण राय ने ठीक ही लिखा है कि शहरों और महानगरों में अनियोजित और अमानवीय शहरी विकास हुआ। गगनचुम्बी इमारतों, साफ-सुथरी सड़कों और हरे-भरे पार्कों के बगल में बजबजाते नालों के किनारे कच्ची बस्तियाँ इसकी गवाह हैं। आज़ादी के बाद रहने लायक शहर बसाने के प्रयास कभी नहीं किए गए। राजनीतिक लाभ के लिए स्लम में बिजली-पानी जैसी सुविधों ज़रूर दे दी गईं। कुछ महीने पहले उत्तर प्रदेश सरकार ने (संभवतः) यह विचार व्यक्त किया था वह चालीस लाख से अधिक श्रमिकों को गाँवों में ही रोक लेगी और उन्हें स्थानीय स्तर पर रोज़गार देगी—यह देखने वाली बात होगी। राय ने अंततः यह निष्कर्ष दिया कि भविष्य अंततः शहरों का ही है। इन लाखों श्रमिकों को गाँव में रोककर रोज़गार देने की जगह उन्हें फ़िराक गोरखपुरी की सलाह पर गौर करना चाहिए और गाँवों का मोह त्यागकर छोटे-छोटे नगर बसाने की सोचना चाहिए। यह प्रस्ताव कितना व्यावहारिक है, यह बहस का मुद्दा है। इससे न जाने कितनी लोकभाषाओं, लोकसाहित्य-कला-संगीत के साथ स्वस्थ सामाजिक मूल्य, संस्कार और सामाजिक सद्भाव-सहभाव के विलोप और भ्रंश का खतरा है। सवाल तो यह भी है कि इन नियोजित नगरों में निर्धन-भूमिहीनों के आवास और सतत विकास के क्या मानदंड होंगे?

बहरहाल, कोरोना से उपजी अमानवीय स्थितियों के कारण मज़दूर अपने गाँव-घर लौटे। लेकिन उनका इस बार का लौटना पहले से कुछ अलग था। इस दौर में न जाने कितनी स्त्रियों ने गर्भ और मासिक स्त्राव और दुनिया भर की बेशर्मा को ढोते-ढोते अपने पति से पूछा—

कितना चलना है! कब तक चलना है, कहाँ चलना है?

वह कहता है इस देश से गायब हो गया है, उसका
गाँव
वह उचारता है ज़ोर से अपने गाँव का नाम
और गाँव भूल गया है उसकी पहचान
देश, प्रदेश, शहर और गाँव सब उससे दूर खड़े हैं
कर रहा है वह एक ऐसी यात्रा जो इतिहास में कभी
नहीं दर्ज होगी

यह शैलेश सिंह की 'प्रवासी' कविता का एक
अंश है। अच्छी कविता है यह—तमाम ऐतिहासिक और
अनैतिहासिक संदर्भों को समेटे हुए। उनकी 'लौटना'
शीर्षक कविता भी अच्छी है।

सवाल उठता है—हम कविता क्यों लिखते हैं?
हम कहानी, उपन्यास या दूसरी अन्य चीज़ें क्यों लिखते
हैं? सोशल मीडिया पर कुछ अशिक्षित साहित्याभिरुचि
वाले ही नहीं, कुछ बड़े रचनाकार भी मान रहे थे कि इस
समय कविता-कहानी लिखने वाले फ़ालतू का लिख रहे
हैं तो मन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है। भारतीय
मनीषियों ने तो इसका उत्तर दे दिया है—काव्यं
यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृत्तये
कान्तासम्मित-तयोपदेशयुजे। (काव्यप्रकाश, मम्मट) अर्थात्
कविता लिखने का प्रयोजन है—यश की प्राप्ति, संपत्ति-
लाभ, व्यावहारिक ज्ञान, अमंगल का नाश, शीघ्र उत्कृष्ट
आनन्द-लाभ और कान्तासम्मित उपदेश। निस्संदेह इससे
कविता का व्यापक उद्देश्य प्रकट होता है। लेकिन क्या
यह सब इस समय लिखे जा रहे निरर्थक साहित्य पर भी
लागू होता है?

आज हम जिस कविता की रचना कर रहे हैं, वह
तो और भी उद्देश्यपूर्ण है। हर ज़माने में इस तरह का
उद्देश्यपूर्ण साहित्य लिखा जाता रहा है। हर रचनाकार
एक लक्ष्य निर्धारित करके रचना करता है। यह लक्ष्य
और उद्देश्य दलित, स्त्री, आदिवासी और अल्पसंख्यक
विमर्श भी हो सकता है और बरसों से चले आ रहे
किसानों-मज़दूरों की समस्या या कि कोई और समस्या
भी हो सकती है। नागार्जुन की तरह हर कवि शोषित-
वंचित-पीड़ित के प्रति 'प्रतिबद्ध, संबद्ध और आबद्ध'
होता है। उसकी प्रतिबद्धता बहुजन समाज कल्याण के
लिए होती है। खैर, कविता के और भी कई उद्देश्य हैं।

कविता मनोविकारों का शमन भी करती है। कविता
मनुष्यों का संस्कार भी करती है। कविता मौजूदा समाज
और उसकी व्यवस्था के समानान्तर एक नये समाज और
नई व्यवस्था का विकल्प देती है। कविता व्यक्ति और
समाज के बेहतर होने का स्वप्न है, कविता शोषण और
अन्याय के खिलाफ़ अनवरत संघर्ष है। कुल मिलाकर
कविता मनुष्य होने की एक तमीज़ है।

ध्यान रहे, स्वान्तःसुखाय वाला ज़माना अब नहीं
रहा। कविता या साहित्य की एक सामाजिक भूमिका
होती है। समाज-निरपेक्ष कविता या साहित्य कला की
दृष्टि से चाहे जितना अच्छा क्यों न हो, उसका मूल्य
समाज-सापेक्ष कविता के आगे शून्य होता है। सुमित्रानंदन
पन्त ने लिखा था—कला के कोमल फेन का मूल्य
मानवीय संवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक नहीं है।
(चिदम्बरा, पृ. 16) वास्तव में कविता में व्यक्त अर्थ
सामाजिक होता है। यहाँ व्यक्तिगत सुख-दुःख भी व्यक्तिगत
नहीं होता है। बहुत पहले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने
देवदारु नामक निबंध में लिखा था कि पागल का लगना
एक का लगना होता है। कवि का लगना सबको लगने
लगता है। वास्तव में एक रचनाकार का अनुभव प्रायः
सबका अनुभव होता जाता है। जो सबको लगे, वही अर्थ
है और जो एक को लगे वह व्यर्थ है। इसीलिए अर्थ
सामाजिक होता है। रचना कोरा भाव या विचार नहीं है,
वह एक कला भी है। इसलिए सामाजिक समस्या,
समाज के अनुभव और समाज के चिंतन को लेकर की
गई रचना सामाजिकों के बीच एक नये रूप-रंग में
पहुँचती है। उसमें रचनाकार की अपनी दृष्टि और कहन
शैली का विशेष योगदान होता है। इसी को वैदग्ध्यभंगीभणिति
या अभिव्यंजना प्रणाली भी कहते हैं। हालांकि अब
कहन शैली बिलकुल सपाट हो गई है, किन्तु उसकी
उपचारवक्रता में व्यंग्य का एक महीन स्वर अवश्य होता
है। 'कोरोना काल' में लिखा गया अधिकांश साहित्य
सपाट और विवरणात्मक है। उसमें व्यवस्था-विरोध का
स्वर तीक्ष्ण है। विडंबनों इन रचनाओं को रचनाकार की
दृष्टि और जनरुचि से जोड़ती हैं और उन्हें सही दिशा
की ओर अग्रसर करती हैं। यही वजह है कि लोक के
मर्म को छूती हुई ये रचनों अर्थपूर्ण और लोकधर्मी हैं। मेरे
विचार से यह 'सही' कविता है। इस दौर में मैंने जितनी

भी कविताएँ पढ़ी हैं, उनमें से अधिकांश में व्यवस्था की आलोचना की गई है।

कोरोना महामारी के दौर में लाखों लोग क्षुधित-पीड़ित और असहाय हैं। सुविधाभोगी लोग अपने में मस्त हैं। जिधर भी नज़र डालिए, विडंबना ही विडंबना नज़र आती है। इस विडंबना को भाषा में उकेरना कितना मुश्किल है। पन्त को कभी गँवई जीवन बहुत अच्छा लगा था। लिखा था—अहा! ग्राम्य जीवन भी क्या है! गँवई गीतकार गँवई जीवन को शहरी जीवन से बेहतर मानते हुए गाते थे—तोहरी बर्फी से नीक मोर लबाही मितरु। लेकिन देखने-सुनने में आया कि बहुत जगह गाँव वालों ने पलायन कर रहे भूखे-प्यासे मज़दूरों को अपने नलों से पानी नहीं भरने दिया। जो लोग शहरों से भागकर गाँव पहुँचे भी, उन्हें कई गाँव वालों ने इस डर से गाँव में घुसने नहीं दिया कि ये सभी शहर की बीमारी गाँव में लेकर आ गए हैं।

कोरोना काल में या तो भूखे-प्यासे असहाय, बीमार और मरे हुए लोग दिख रहे हैं अथवा विकट परिस्थितियों से संघर्ष करते हर उम्र के स्त्री-पुरुष और बच्चे। मज़दूरों की यह लाचारी, बीमारी और उनकी मौतें स्वाभाविक नहीं हैं। यह कोरोना वायरस और उससे उत्पन्न संकट से देश को मुक्त करने के क्रम में पैदा हुई स्थितियाँ हैं। यह अयाचित दुःख और संकट है। इसलिए इन अस्वाभाविक स्थितियों में सरकार की भरण-पोषण योजना और जनकल्याण के बावजूद क्षुब्ध भूखे-प्यासे गरीब मज़दूरों के पलायन से उत्पन्न समस्याओं को देखकर व्यवस्था की खामियों को लेकर या तो गुस्सा आता है अथवा बदहाल मज़दूरों को देखकर करुणा उत्पन्न होती है। इस समय करुणा के ब्याज से दूसरे अन्य भाव भाषा और कला आदि में आकार ले रहे हैं।

तात्कालिक और कालजयी रचना

रचना दो तरह की होती है- पहली तात्कालिक और दूसरी शाश्वत रचना। अपने समय और समाज की तात्कालिक समस्याओं और आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर लिखी गई प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाली रचना तात्कालिक रचना होती है, जिसमें अपने समय का सुख-दुःख, शोष और आक्रोश व्यक्त होता है। इन्हीं कविताओं

में निराशा और अवसाद से मुक्ति और एक बेहतर भविष्य के सपने भी होते हैं। टूटे-थके-हारे और निराश व्यक्तियों के दुःख एवं उनकी पीड़ा को संवेदनात्मक या वैचारिक स्तर पर तात्काल व्यक्त करने वाली ऐसी रचनाओं को तात्कालिक साहित्य कहा जाता है। किसी घटना, आन्दोलन, प्राकृतिक आपदा, महामारी और विप्लव या युद्ध पर उसी समय लिखा गया साहित्य इसी तरह का साहित्य होता है। निस्संदेह इस तरह की अधिकांश रचनाओं में न तो व्यापकता होती है और न ही गहराई, फिर भी ये रचनाएं सामाजिकों को उसी तरह अवसाद-मुक्त करने का काम करती हैं जिस तरह असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए कोई अचूक औषधि। दुःख का उत्सव मनाने का समय नहीं है यह शीर्षक मेरी कविता पर टिप्पणी करते हुए फेसबुक पर प्रो. देवेन्द्र चौबे ने लिखा था कि संकट की घड़ी में ऐसी ही रचनाएं साथ में खड़ा होने की ताकत प्रदान करती हैं। इस टिप्पणी से इतना तो स्पष्ट है कि तात्कालिक साहित्य समाज के नज़रिये से अपनी तात्कालिकता में बहुत उपयोगी होता है। जबकि शाश्वत या कालजयी रचनाएं अपने समय को स्वर देती हुई उससे आगे निकल जाने वाली रचनाएं होती हैं। ये अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य से जुड़ी होती हैं। ऐसी ही रचनाओं को कालजयी रचना कहा जाता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि तात्कालिक धर्म को ध्यान में रख कर रची जानेवाली रचनाएं अपने समाज को भविष्य के प्रति सचेत नहीं करती हैं। हकीकत तो यह है कि तात्कालिक भावावेग और विचार से निःसृत रचनाओं में से बहुत सी रचनाएं कालजयी हो जाती हैं।

कोरोना काल के शुरुआती दौर में कुछ लोग तात्कालिक साहित्य पर बहस कर रहे थे। इन बहसों का मुख्य उद्देश्य था अपने समय से संवाद करने वाली और तात्कालिक धर्म का निर्वीह करने वाली कविताओं को खारिज करना। ये बहस-मुबाहसे 'श्रेष्ठ' कविता हेतु गंभीर आलोचना का उपक्रम हो सकते हैं। प्रियंका दुबे ने दाँते का हवाला देते हुए बताया कि उन्होंने राजनीतिक कारणों से फ्लोरेंस से निर्वसित किए जाने के बाद के अपने घोर पीड़ा के वर्षों में भी तुरंत राजनीतिक रूप से 'विद्रोही' कवितों लिखने के ऑब्बियस रास्ते को नहीं चुना। कभी नहीं, एक कविता के लिए भी नहीं, बल्कि

इस वक्रत उन्होंने प्रेम, मृत्यु और ईश्वर जैसे विषयों के ज़रिये उन विशाल सवालियों को छुआ जिनकी पगडंडियों पर चलकर जीवन के बाकी सभी सिरों तक उतरा जा सकता है। नतीजा : 'डिवाइन कॉमेडी' जैसा महाग्रंथ। लम्बे समय तक याद रखे जा सकने वाला लेखन हमेशा अपनी तात्कालिकता से उपर उठकर तात्कालिक प्रश्नों पर बात करने की राह खोजता है। कोरोना के इस समय में लिखते हुए यह बात याद रखी जानी चाहिए। तात्कालिक संवेदना से पत्रकारिता ज़रूर खुद को परिभाषित कर सकती है और न्यायोचित भी ठहरा सकती है, लेकिन साहित्य में मुक्ति इतनी सुलभ नहीं। अपने टेक्स्ट में बिना तात्कालिकता को ट्रैंसेंड किए कला से साक्षात्कार लगभग दुर्लभ जितना असंभव है।

कमलाकांत त्रिपाठी ने लिखा—कविता में उक्तिवैचित्र्य, व्यंग्योक्ति, वक्रोक्ति, अतर्क्य, अतिकथित और चमत्कारिक उक्तियां तात्कालिक वाहवाही लूट सकती हैं। लेकिन कविता का लक्ष्य क्या सिर्फ तात्कालिक वाहवाही लूटना है? क्या जीवन से उसका कोई सरोकार नहीं? शब्द-सत्ता को इतना महत्व क्यों दिया गया होगा? शब्द महज शब्द यानी ध्वनियाँ होते हैं, अर्थ, भाव और विचार के वाहक नहीं? और अर्थ, भाव, विचार का ताल्लुक जीवन से, उसमें कुछ गति लाने से, उसे दिशा देने से नहीं होता? मनुष्य में सुषुप्त पड़ी सकारात्मक संवेदना को जगाने, उसे सघन और समृद्ध करने का काम कौन और कैसे करता है? मनुष्य के क्रियमाण होने के बीज घनीभूत संवेदना में ही अंकुरित नहीं होते?...कविता जीवन से दूर क्यों हो रही है? फेसबुक की कवितों पाठकों के लिए क्षणिक रूप से चमत्कृत होने, वाह वाह करने, फिर भूल जाने की चीज़ क्यों बनती जा रही है?...अधिकांश कवियों का जीवन देखकर लगता तो नहीं कि उनकी कविता में व्यक्त विचारों, मूल्यों से उनका कोई ज़मीनी ताल्लुक है! और आलोचक वीरेन्द्र यादव की दृष्टि में हम एक महावृत्तान्त की प्रतीक्षा में हैं। स्मृति को बरकरार रखना इस समय प्रतिरोध को खाद-पानी देना है। इस बीच जो कुछ घटा है वह सब छिटपुट कविताओं में नहीं, गोदान, मैला आँचल और धरती धन न अपना सरीखे कथा वृत्तान्त

लिखे जाने के लिए है। उम्मीद की जानी चाहिए कि यह सब कुछ दर्ज होगा, कुछ देर से ही सही।

गनीमत है कि वीरेन्द्र यादव ने यह नहीं कहा कि इस समय लिखी जा रही कवितों निरर्थक हैं। उन्होंने कविताओं की सीमा बताते हुए कहा है कि इस त्रासदी का बयान छोटी-छोटी कविताओं में नहीं, बल्कि किसी महावृत्तान्त में ही किया जा सकता है। वीरेन्द्र यादव ने भी ऐसे किसी वृत्तान्त को अभी लिखे जाने से मना किया है। कारण, शाश्वत साहित्य की अपनी शर्तें।

यूरोप में प्लेग नामक महामारी 1857-58 में शुरू हुई। भारत में यह महामारी 1930-40 तक रही। इस महामारी को लेकर यूरोप में तीन उपन्यास लिखे गए, जिनमें से दो महामारी के दौरान ही लिखे गए थे। लोगों को उनका नाम भी मालूम नहीं है। इस महामारी के बाद अल्बेयर कामू ने फ्रांसीसी भाषा में दी प्लेग नाम से जो उपन्यास लिखा, वह विश्व साहित्य में एक क्लासिक की हैसियत रखता है। यानी, यूरोप में प्लेग के दौरान लिखा गया सारा साहित्य नामोल्लेख योग्य भी नहीं है। तो क्या जैसा कि टी. एस. इलियट ने कहा है, उस तरह का होना चाहिए कि जिस परिस्थिति, घटना, वस्तु पर लिखना है उससे इतना दूर चले जाइए कि चीज़ें स्मृतियों में हों। इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध के कला के तीन क्षण को याद कर लीजिए। यानी कला या साहित्य के लिए घटना, स्थिति, वस्तु से परे हो जाना आवश्यक है — ज्ञानातीत, अनुभवातीत, लोकातीत होना ज़रूरी है—तब श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता है। उसमें कल्पना का मिश्रण आवश्यक है। मुक्तिबोध ने कामायनी : एक पुनर्विचार में भी लिखा है—कलाकार अपनी विधायक कल्पना से जीवन की पुनर्चना करता है।

ऐतिहासिक और मिथकीय घटनाओं का तो पुनर्सृजन किया जाता है, लेकिन जो हमारी आँखों के सामने घट रहा है, उसका पुनर्सृजन क्यों? जो हाज़िर है, उसमें हुज्जत क्या? मोहम्मद इकबाल खान ने अपने विकलांग बेटे को भरतपुर से बरेली ले जाने के लिए किसी की साइकिल चुराई। उसकी ईमानदारी देखिए कि उसने अपना नाम बताते हुए साइकिल के मालिक को एक चिट्ठी भी लिखी। साइकिल चुराते समय अपराध-बोध से

कितना ग्रसित रहा होगा इकबाल ! यह घटना अपने आप में एक कहानी है, कविता है। इसको स्मृति में लाकर फिर उसमें कल्पना का मिश्रण करके किस कालजयी कविता या कहानी का सृजन किया जाएगा? बहरहाल, इस समय कोरोना काल की त्रासदियों पर लिखना बेमतलब का लिखना है? एक प्रश्न के जवाब में एक बड़े लेखक ने कहा—कोरोना पर जो लिखा जा रहा है, उसकी कोई सार्थकता नहीं है। सवाल उठता है क्यों? क्योंकि उसमें अपने समय और समाज का ठोस और वीभत्स यथार्थ है? क्योंकि वह काल्पनिक नहीं है या कि यथार्थ और कल्पना और स्वप्न (रचनाकार जिस दिशा में उसे ले जाना चाहता है, वह स्वप्न) के ताने-बाने से वह नहीं बुना गया है! एक बात ध्यान देने की है कि इस तरह की यथार्थपरक कविताओं के आधार पर ही हम किसी कवि के समय, समाज और उसकी स्थितियों को जाँचते-परखते हैं। खेती न किसान को, धूत कहो अबधूत कहो (तुलसीदास) से लेकर प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, नागार्जुन आदि की तमाम कविताओं में हम उनके युग का साक्ष्य ढूँढते हैं। इत्तेफ़ाक से उनमें से बहुत-सी कवितों / कथा-साहित्य ऐतिहासिक महत्व के भी हैं और कला की दृष्टि से भी अच्छे हैं।

क्या कमलाकांत त्रिपाठी की नज़र में फेसबुक की कवितों तात्कालिक वाहवाही लूटने और पाठकों को क्षणिक रूप से चमकृत करने तक ही सीमित हैं? संभव है इन कविताओं को पाठक जल्दी ही भूल जाँ, किन्तु न भूलने की क्या गारंटी है? इक्कीसवीं शताब्दी में अब तक यानी कोरोना काल से पूर्व तक का लिखा गया कितना साहित्य न भूले जाने योग्य है? और यह कितना हास्यास्पद है कि 'अधिकांश कवियों का जीवन देखकर लगता तो नहीं कि उनकी कविता में व्यक्त विचारों, मूल्यों से उनका कोई ज़मीनी ताल्लुक है!' क्या कविता से अलग कुछ लिखने वालों पर यह सवाल लागू नहीं होता है? इस तरह के सभी कवि-लेखक क्या समाज और उसकी हलचलों से जुड़े नहीं हैं?

अपने समय तक ही प्रासंगिक बनी रहने वाली रचनाओं को अधिकांश लोग कोई भाव नहीं देते हैं। लेकिन ध्यान से देखा जाए तो यही रचनाएं पीड़ित और

प्रभावित लोगों के दुःख, स्वप्न और संघर्ष को बयान करती हैं। ऐसी रचनाएं अपने समय से सीधे संवाद करती हैं। 'उदासी' शीर्षक कविता (चन्द्रदेव यादव) का एक उदहारण देखिए—

अपने कन्धों पर अपने दुःख की गठरी लादे
अन्तहीन यात्रा पर हैं मजूर
थके नहीं हैं वे
गहरी बिवाइयों और पाँव के फफोलों के बावजूद
चले जा रहे हैं
भूख और प्यास से लड़ते हुए
दुःख और उदासी को ओढ़े
अनदेखे सुख की उत्कट अभिलाषा में
जो पहले से ही घायल है

वास्तव में इस समय कविता नहीं, दुखद समय का दस्तावेज़ लिखा जा रहा है। दुखद समय का यह बयान संभव है कुछ लोगों को 'रिपोर्ट' जैसा लगे। देखिए—

गज़ल नहीं, मैं तेरा बयान लिखता हूँ
तेरे ही सामने तेरी दास्तान लिखता हूँ।
तुम्हारे पाँव के नीचे भले न धरती हो
सुनो, ज़मी को मैं आसमान लिखता हूँ।

आहत भविष्य की ओर बढ़ते तथा रोटी और छत से महरूम मज़दूरों के पलायन के दर्द को इसी भाषा में लिखा जा रहा है। हर कवि अपना देखा-सुना हुआ सच लिख लेना चाहता है। एक गज़ल के कुछ शेर देखिए—

सामने तेरे मजूरों की कहानी रख रहा
खुद की देखी, सुनी औरों की जुबानी रख रहा।
कितने पाँवों से रिसे हैं खून, उनको देखना
गर्दिशे-क्रोना की कुछ सच्ची निशानी रख रहा।
भूख लेकर के हथेली पर जो तकते रास्ते
कौन उनके सामने रोटी औ पानी रख रहा।
बुझ गए चूल्हे मजूरों के, पतीली मौन है
अब भी कोई है जो अदहन का पानी रख रहा।

महेश कटारे तो जैसे सभी कवियों से प्रवासियों के दुःख-दर्द को बयान करने के लिए निर्देश दे रहे हैं। वे आश्वस्त हैं कि इस समय मज़दूरों की दुखद स्थितियों और उनके प्रति हुई व्यवस्था की लापरवाही के अलावा

कवि और लिख ही क्या सकते हैं। उनकी गज़ल का एक शेर देखिए—

पाँव में छाले आँख में आँसू पीड़ा भरी कहानी लिख
मजदूरों के साथ हुई जो सत्ता की मनमानी लिख

मैंने शुरू में ही कहा था कि इस दौर की कविताओं में व्यंग्य का एक तीखा स्वर विद्यमान है। अशोक वाजपेयी ने एक अन्य लेख में साहित्य की राजनीति, अकादमियों की निष्क्रियता और अप्रासंगिकता और जनसंगठनों की वर्चस्ववादी नीति के बारे में लिखा। उसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि हमारा साहित्य प्रायः व्यवस्था का आलोचक रहा है—हिन्दी में अनेक जनधर्मी या समाजधर्मी संगठन अपना वर्चस्व कायम करने की लगातार चेष्टा करते रहते हैं। इसका निषेधात्मक पक्ष यह है कि साहित्य की राजनीति साहित्य की बुनियादी बहुलता को अवमूल्यित करती हैहिन्दी के जनधर्मी संगठन अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को कभी नज़रअंदाज नहीं करते हैं। लेकिन अक्सर वे बड़ी कट्टरता का बर्ताव करते हैं। बहुत से तो ऐसी संस्था का होने मात्र से अपने को समाजधर्मी मान लेते हैंलोकतंत्र की बुनियादी भावना और मूल्यों के अनुरूप हमारा साहित्य पिछले पचास-साठ वर्षों में कुछ विचलनों और संवादों को छोड़कर व्यवस्था का आलोचक ही रहा है। (जनसंदेश टाइम्स 27 मई, 2020, कभी कभी कालम)

निस्संदेह हिन्दी साहित्य प्रायः व्यवस्था के प्रतिपक्ष में खड़ा है। जनसरोकारों से जुड़ा साहित्य सामंती और पूँजीवादी अनैतिकताओं के पक्ष में खड़ा हो ही नहीं सकता है। 25 और 26 मई को दो खबरें प्रकाशित हुईं। खबर यह थी कि देश भर में लॉक डाउन की वजह से दूसरे राज्यों में फंसे प्रवासी मजदूरों को लेकर चली 40 श्रमिक स्पेशल ट्रेनें रास्ता भटक गईं। महाराष्ट्र के बसई से गोरखपुर के लिए चली ट्रेन राउरकेला पहुँच गई और मुंबई से पटना के लिए चली ट्रेन पुरुलिया जा पहुँची। रेलवे के अधिकारियों ने बताया कि ये ट्रेनें भटकी नहीं थीं, बल्कि इनका रूट जानबूझकर बदला गया था। और दूसरी खबर यह कि दो दिन के बदले नौ दिन में अपने गंतव्य तक पहुँच रही हैं स्पेशल ट्रेनें। 16 मई को सूत से सीवान के लिए चली ट्रेन 25 मई को सीवान पहुँची।

इतनी देरी से गंतव्य तक पहुँचने और भूख-प्यास की वजह से ट्रेनों में 7 लोगों की मौत हो गई।

इन घटनाओं को लेकर मोहन लाल यादव ने मज़दूर रेल नाम से बहुत ही अच्छी लघुकथा लिखी है। उत्कृष्ट व्यंग्य का यह अच्छा उदाहरण है। लेखक ने भोर में एक सपना देखा कि 15-20 डिब्बोंवाली मज़दूर ट्रेन पटरी छोड़कर सड़क मार्ग से होती हुई उसके घर के पास आकर खड़ी हो गई और सीटी बजाने लगी। उसने ड्राइवर से डरते डरते पूछा कि तुम इसे सड़क मार्ग से क्यों ले जा रहे हो? डर इसलिए लगा कि ट्रेन का ड्राइवर जब इसे मज़दूरों पर चढ़ा सकता है तो गुस्सा आने पर इसे हमारे घर पर ही न चढ़ा दे। खैर, ड्राइवर ने लेखक की नादानी को नज़रंदाज़ करते हुए कहा कि देश में चल रहे आत्मनिर्भरता अभियान के चलते ट्रेनें भी आत्मनिर्भर हो गई हैं। ये कहीं भी आने-जाने और रास्ता भूलने-भटकने के लिए स्वतंत्र हैं। फिर उसने कहा कि मैं तो मज़ाक़ कर रहा था। दरअसल बात यह है कि पटरियों पर अब मज़दूर चलने लगे हैं, इसलिए ट्रेन को पटरियों पर चलाना रिस्की हो गया है। 'ये आवारा मज़दूर पटरी पर ही खाना बनाते हैं, खाते हैं और वहीं सो भी जाते हैं। ऐसे बेसुध होकर सोते हैं कि कट जाने पर भी नहीं जागते। विरोधी ससुरे इसको मुद्दा बना लेते हैं। सरकार को प्रति मज़दूर 10-15 लाख देना पड़ जाता है। रेल मंत्रालय वैसे ही घाटे में चल रहा है, ये मजूर और घाटा करवा रहे हैं। सरकार ने फ़ैसला कर लिया है कि अब न तो देश पटरी पर चलेगा, न ही रेलगाड़ियाँ। ड्राइवर ने बताया कि मैं तो रास्ता ही भूल गया था। दरअसल मुझे पटना जाना है। किधर से जाऊँ? लेखक ने कहा कि पटना का रास्ता मुझे भी नहीं मालूम है। ऐसा करो, तुम एक मील आगे चले जाओ। वहाँ चौराहे पर गाँजे-भाँग की एक दुकान है। दुकानदार पटना का ही है, वह तुम्हें सही रास्ता बता देगा।

यह तात्कालिक उद्देश्य को लेकर लिखी गई लघुकथा है। लेकिन यह कितना मारक है, इसे बिना किसी आलोचनात्मक टूल्स के समझा जा सकता है। इसमें 8 मई को औरंगाबाद में मालगाड़ी से कटकर मरने वाले मज़दूरों से लेकर सरकार के आत्मनिर्भरता वाले नारे और 25 मई को ट्रेनों के रास्ता भटकने की घटनाओं

और विडम्बनाओं पर ज़बरदस्त कटाक्ष किया गया है। इसमें लेखक ने मज़दूरों की लाचारी और शासन की अदूरदर्शिता तथा अन्य त्रासद स्थितियों को बारीकी से पेश कर दिया है। इसमें आए सभी सन्दर्भ वास्तविक हैं, सिर्फ इसे पेश किया गया है सपने के रूप में।

इस समय का सबसे प्रचलित शब्द और जीवंत मुहावरा है 'पलायन'। शहरों से पलायन के लिए मजबूर लाखों मज़दूरों का विश्वास शहरी लोगों से टूट गया है। शहर की चकाचौंध उनकी आँखों को पीड़ा दे रही है। शहर अब संभावना के तौर पर नहीं दिखाई दे रहा है उन्हें।

1947 में भारत विभाजन के समय एक बड़ी संख्या में लोगों ने पलायन किया था। अपने वतन आने के लिए उन लोगों को कितनी ज़िल्लतें उठानी पड़ीं, यह सब इतिहास और साहित्य में दर्ज है। स्वतंत्र भारत में भी जब तब बाँधों और अन्य शहरी परियोजनाओं के चलते लोगों को अपना गाँव-घर छोड़कर विस्थापित होना पड़ा। लेकिन अभी-अभी दो-ढाई महीने से भारत के विभिन्न शहरों से मज़दूरों और निम्न मध्यम वर्ग के लोगों का जिस तरह से पलायन हो रहा है वह एक भयंकर त्रासदी से कम नहीं है। गुलज़ार ने अपनी एक छोटी-सी नज़्म 'माईग्रेटिंग /कोविड-19-II-बँटवारा' में विभाजन के समय के और इस समय के पलायन को शब्दबद्ध किया है। देखिए—

कुछ ऐसे कारवाँ देखे हैं सैंतालिस में भी मैंने
ये गाँव भाग रहे हैं अपने वतन में
हम अपने गाँव से भागे थे, जब निकले थे वतन को
हमें शरणार्थी कह के वतन ने रख लिया था
शरण दी थी

इन्हें इनकी रियासत की हदों पे रोक देते हैं
शरण देने में खतरा है

हमारे आगे पीछे, अब भी एक कातिल अजल है
ना मज़हब, नाम, ज़ात, कुछ पूछती है
--मार देती है

खुदा जाने, ये बटवारा बड़ा है
या वो बटवारा बड़ा था

निस्संदेह सवाल बहुत बड़ा और गंभीर है। यह
बँटवारा बड़ा है या वह बँटवारा बड़ा था !

ओमप्रकाश यती ने भी कोरोना काल में रोज़ी-रोटी छिन जाने के कारण उत्पन्न भयावह स्थितियों को बहुत ही खूबसूरत ढंग से अपनी गज़लों में शब्दबद्ध किया है। देखिए—

लोग भूखे-प्यासे ये कब से सड़क पर हैं
माँ-पिता के साथ ही बच्चे सड़क पर हैं।
घर बनाते हैं हमारे—आप के लेकिन
रात में मज़दूर वो सोते सड़क पर हैं।
काम-धंधे बंद हैं, सब हैं मुसीबत में
अच्छे-अच्छे लोग भी अब के सड़क पर हैं।
पटरियों पर ट्रेन उनको रौंद देती है
डर के मारे जब न वो चलते सड़क पर हैं।
है हुनर हाथों में, दम भी बाजुओं में है
ये महामारी के ही चलते सड़क पर हैं।

इस समस्या को लेकर और भी कवियों ने कविताएं लिखी हैं। इस समय शहरों से अपने गाँव की ओर पलायन कर रहे अति साधारण लोग शहरों में या रास्ते में या कि श्रमिक स्पेशल ट्रेनों में भूख और प्यास से मर रहे हैं। मरने वालों में बच्चे, जवान, बूढ़े और स्त्री-पुरुष सभी हैं। एक बच्चे की मौत पर युवा कवि रोहित यादव की यह चिंता स्वाभाविक है—

एक बच्चा जो कल मरा
उसके साथ एक भविष्य मर गया
कोई सोच नहीं सकता था
कि वह भूख से नहीं मर सकता था

.....
सरकार की अनदेखी से
ऐसे ही रोज़ मरते हैं भविष्य
और हम सिर्फ बातें करते हैं
हम नहीं सोचते हैं कि ऐसा क्यों होता है
--जनसन्देश टाइम्स

बिलकुल वाजिब चिंता है रोहित की। बच्चे की मौत किसी भी परिवार, समाज और देश के भविष्य की मौत होती है। और हम हैं कि इस बारे में कुछ सोचते ही नहीं हैं। कुछ न सोचने के कारण ही स्थितियाँ जस की तस बनी रहती हैं। इसलिए देश के विराट भविष्य को बचाने के लिए आगे आना होगा। पलायन करते मज़दूरों ने किस तरह अपने से ज़्यादा अपने भविष्य की

चिंता की है, इसे हम सब रोज़ देखते रहे हैं। एक आदमी काँवर में अपने दोनों बच्चों को बिठाकर अपने गाँव जा रहा था। दूसरा रिक्शे को ही घर की शक्ल देकर बच्चों को सुरक्षित करने की कोशिश कर रहा था। एक स्त्री अपने गर्भस्थ शिशु को ढोते और कंधे से चिपके दूसरे बच्चे की हिफाज़त करते हुए भारी भरकम सूटकेस खींचते हुए चली जा रही थी। एक अन्य युवा स्त्री अपने बच्चे को सूटकेस पर लिटाकर उसे सामान की तरह खींच रही थी। बच्चों के हिफाज़त की और भी कई कई नज़ीरें हैं। और महत्वपूर्ण यह कि रचनाकारों की चिंताओं और नसीहतों से पहले ही ये अल्पशिक्षित मज़दूर अपने बच्चे यानी देश के भविष्य के प्रति सजग थे। स्वप्निल श्रीवास्तव की कविता जो कुछ भी हो ख़ूबसूरत हो का एक अंश यहाँ बहुत अर्थपूर्ण है—

जिन जाहिलों ने इस दुनिया को
बदसूरत बनाया है, उसे ख़ूबसूरत
बनाकर उन्हें शिकस्त दी जा सकती है

एक पीड़ा गाँव वालों की भी है। गाँव को उपेक्षित छोड़कर शहर में जा बसे लोग भी जब कोरोना-काल में गाँव पहुँचे तो गाँववालों ने उन्हें विवशता अथवा हिकारत के साथ देखा। दोनों ही स्थितियाँ कोरोना काल में बन रहे नये रिश्तों की ओर संकेत करती हैं। शहर से गाँव आए लोगों के प्रति हिकारत इसलिए कि अपने विकास के लिए शहर गए लोगों ने गाँव की कोई सुध नहीं ली। बहुतों ने तो अपने हिस्से की ज़मीन भी बेच दी और अब संकट आने पर शहर से भाग कर गाँव आ रहे हैं। इनसे गाँव में भी कोरोना फ़ैलने का खतरा था। और विवशता इसलिए कि जिस भाई ने पैसे के लिए शहर में अपना पूरा जीवन गुज़ार दिया और उसके पैसे से गाँव स्थित घर के लोग चैन से जी-खा रहे हैं, उसी भाई-भाभी और उनके बच्चों को कोरोना वायरस की वजह से उसी के पैसों से बने घर में जगह नहीं दे पा रहे थे। वाई आर यादव के भोजपुरी में लिखे गए इस यथार्थपरक, किन्तु मार्मिक गीत का प्रारंभिक अंश देखिए—

काल चक्र ई अइसन सबके, चढ़ल कपारे डोलत बा।
बड़का भइया शहर से अइलन, केहू नइखे बोलत बा।।

बॉम्बे जइसन शहर में उनकर
चढ़ल जवानी बीत गइल,

उन्हीं के पइसा से हमरे
घर के पक्की भीत भइल।।

लमवैं से अब छोटका बड़का सबही मेथी छोलत बा।

साहित्य और कला समीक्षक रवीन्द्र त्रिपाठी ने प्रयाग शुक्ल के रेखांकन पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखी। टिप्पणी में लिखा कि इस कोरोना काल में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर तालाबंदी हुई है, लेकिन दूसरे स्तर पर तालाखुलबंदी भी हुई है। साहित्यकार और कलाकार का मन किसी स्थिति में कैद नहीं रह सकता है। एकांत में भी अच्छी कलाकृतियों की रचना की जा सकती है। ऐसा पहले भी हुआ है और इस कोरोना काल में भी हो रहा है। साहित्य में फेसबुक लाइव के माध्यम से नये प्रयोग हो रहे हैं और कई कलाकार समकालीन समय में उपजी दुश्चिंताओं को अपनी कला के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं। यह बिलकुल सही है, किन्तु कुछ एक कलाकार ही नहीं, वरन अपने समय और समाज से जुड़े प्रायः सभी साहित्यकार-कलाकार सोशल मीडिया के माध्यमों से अपने समाज और देश से जुड़ रहे हैं। वास्तव में साहित्य और कला के क्षेत्र में यह एक अभूतपूर्व परिघटना है। साहित्यकारों और कलाकारों के लिए यह वास्तव में एकांत साधना का समय है। छायावाद के संबंध में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा था कि 'साहित्य व्यक्तिगत प्रयास है।' आज यह चरितार्थ हो रहा है। लेकिन सर्जना के क्षणों में साहित्यकार और कलाकार सामाजिक द्वंद्वों और संघर्षों से असम्पृक्त नहीं होते हैं। जटिल सामाजिक संबंध और प्रक्रियायें उन्हें अलग नहीं होने देती हैं।

फिर रवीन्द्र त्रिपाठी ने कोरोना काल में प्रयाग शुक्ल के रेखांकन की प्रक्रिया को बताया है। नोएडा स्थित अपने फ़्लैट की बालकनी में आकर वे सामने की बहुमंजिली इमारतों को देखते हैं और भूदृश्य बनाते हैं, लेकिन ये भूदृश्य 'मूर्त' नहीं हैं, बल्कि उनको अमूर्तन की ओर ले जाया गया है। अमूर्तन की वजह से इन रेखांकनों में विशिष्ट तरह की सार्वजनीनता आ गई है। कला के क्षेत्र में यह बात भले सही हो, किन्तु कविता या साहित्य के क्षेत्र में यह जरूरी नहीं कि सार्वजनीन होने के लिए अमूर्तन का सहारा लिया जाए। अमूर्तन से

रचना अस्पष्ट हो जाती है। और दूसरी बात यह कि रचनागत विवरण चाहे नोएडा के हों अथवा मुंबई या कलकत्ता के, वे उन जैसी परिस्थितियों वाले सभी स्थानों के होते हैं। 'मैला आँचल' की समस्याएँ सिर्फ पूणिया की नहीं हैं। ऐसी रचनाओं भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं। कोरोना काल में पलायन कर रहा मज़दूर उत्तर प्रदेश का हो या बिहार का अथवा उड़ीसा या पश्चिम बंगाल का, वह सिर्फ भारत का मज़दूर था। उनका दुःख, उनकी समस्याएँ और उनके पलायन करने का ढंग भी लगभग एक जैसा था। हकीकत तो यह है कि वह बेबस, लाचार आर्थिक विसंगतियों का शिकार हमारे देश का मज़दूर था जिसके सामने भूख की समस्या फ़िलहाल सबसे बड़ी समस्या है। एक तो अचानक घोषित लॉकडाउन की वजह से वे अपने गाँव-घर नहीं जा सके और दूसरे स्थानीय सरकारें अपने आश्वासनों को ठीक से पूरा नहीं कर सकीं, जिससे भूखे-प्यासे ये मज़दूर राज्यों की सीमा तोड़कर पैदल ही अपने वतन की ओर चल पड़े।

'छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा' के मज़दूर संगठनकर्ता शेख अंसार की यह कविता देखिए, जिसका शीर्षक है मैं मज़दूर हूँ—

इसरो, एम्स, संसद, सुप्रीम कोर्ट मैंने ही बनाये हैं
बाँध, पुल, सड़कें, लालकिला, ताजमहल, मैंने ही
बनाये हैं

रेलें, विमान, जलपोत सब बनाये हैं मैंने ही

मत बता मुझे
मन्दिर मस्जिद के दावे और कहानियाँ

मैं मज़दूर हूँ

मैंने न जाने कितने

भगवान और अल्लाह के घर बनाये

आज मैं बेघर-बेदर हूँ

पर मैं ऐसा ही नहीं रहूँगा

इस बार सरकार ने जो ज़ख़्म दिए हैं
वह कोरोना से भी ज़्यादा जानलेवा है

इस बार अपने आक्रोश को
दृढ़ संकल्प में बदल दूँगा मैं
आँसुओं को बदलूँगा अंगारे में

अब मेरी भूख शांत नहीं होगी
रोटी के चंद टुकड़ों से
अब मैं चबा जाऊँगा समूचे पूँजीवाद को

व्यवस्था से असंतुष्ट साधारण लोगों का आक्रोश इसी तरह फूटता है। आज के मज़दूरों को अपनी परिस्थितियों और बड़े लोगों के आश्वासनों की वास्तविकता का बोध है। अब आप कविता में 'अमूर्तन' की ज़रूरत को स्वयं देख लीजिए। यह अभिधामूलक कविता अपने स्वरूप और तेवर में बारीक शब्द-गुम्फन वाली अबूझ कला से कमतर नहीं है।

किसी भाव-विचार और संवेदना को स्पष्ट रूप से संप्रेषित करने वाली कविता अपनी कविताई में अभिधामूलक होने पर भी श्लाघ्य है। बोधिसत्व की कविता इससे तो अच्छा था ! प्रारम्भ में सीधा सादा बयान लगती है, लेकिन अन्त तक जाते जाते वह कई अर्थ-संकेत देने लगती है। उनकी इस कविता के कुछ अंश देखिए—

इस जीवन से अच्छा था

मैं पैदल जा रहे किसी मज़दूर के

नंगे पैरों का जूता हो जाता

या मैं एक भटके यात्री की प्यास का

पानी हो जाता/या एक धू-धू दोपहर में

राख हो रही किसी बच्ची को घर पहुँचाने वाली

बस या बैलगाड़ी हो जाता

और इस सदिच्छा के बाद बोधिसत्व कहते हैं—

जीवन ऐसे अकारथ जाए एकदम

चूक जाए इस पृथ्वी पर आना

इससे तो अच्छा था/किसी झूठे शासक को बांधने

की

बेड़ी हथकड़ी हो जाता...

मैं किसी सरकार की चिता की

लकड़ी हो जाता

हम जिस समय और समाज में साँसें ले रहे हैं वह बेहद छली, क्रूर, और निष्ठुर है। हमारे समय के 'समर्थ लोग' आत्ममुग्ध, आत्मकेन्द्रित और प्रशंसाकामी हैं। अपने श्रम से समाज को सँवारने वाला एक बड़ा तबका सामाजिक विषमता की पीड़ा से त्रस्त है। अधिकतर

ज़िम्मेदार लोगों ने उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया है। इस क्रम में सत्ता की नाकामियाँ भी उजागर हुई हैं। हमारे सामने लाखों की संख्या में भूखे-प्यासे लोग राजमार्गों पर ठोकें खा रहे हैं। बहुतों की दर्दनाक मृत्यु भी हुई है। फिर भी उनकी अदम्य जिजीविषा उन्हें आगे बढ़ने को प्रेरित कर रही है। अनंत यात्रा पर निकले उन कुल-गोत्र-हीन अनाम मज़दूरों के संघर्ष में परोक्ष रूप से ही सही, हर कवि-लेखक और कलाकार शामिल है।

इस दौर में लिखी गई अधिकांश कविताएं सपाटबयानी के शिल्प में हैं। वे चाहे मज़दूरों पर केन्द्रित हों अथवा स्त्रियों पर, विसंगति और विडंबना उनके कथ्य को धार देते हैं। सुभाष राय की कविता 'एक चिट्ठी ज्योति बेटी के नाम', डॉ. दिलीप कुमार कसबे की कवितों 'कोरोना', 'मज़दूर' और 'वह' इसी सपाटबयानी के उदाहरण हैं। मदन कश्यप, बोधिसत्व, स्वप्निल श्रीवास्तव, अंशु मालवीय आदि की कविताओं में यथार्थ को बिम्बात्मक ढंग से बयान करने की कोशिश की गई है। जबकि भास्कर चौधुरी की कविता तानाशाह प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई ठीक ठाक कविता है—

तानाशाह भी एक दिन
और बच्चों की तरह पैदा हुआ था
माँ के गर्भ से

उसके लिए कोई आकाशीय भविष्यवाणी नहीं हुई थी
न वह 'बुल आवर' में पैदा हुआ कि
ज्योतिष ने भविष्यवाणी की हो—
'उसे मारने होंगे सौ शेर
नहीं तो सौवां शेर उसकी मृत्यु का कारण होगा...

.....
उसने अच्छी तरह समझ लिया
तानाशाह बनने का रास्ता
भूखे पेटों के ऊपर से होकर जाता है

इसी दौर में अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि लारेंस फेरलिनगेटी की कविता का दया का पात्र है वह देश नाम से हिन्दी में अनुवाद किया है डॉ. कश्मीर उप्पल ने। यह कविता महान दार्शनिक खलील ज़िब्रान के विचारों पर आधारित है। संयोग से यह हमारे समकाल पर पूरी तरह लागू होती है। इसकी शुरू की दो-चार पंक्तियाँ देखिए—

अप्रैल, 2021 - एक

दया का पात्र है वह देश
लोग जिसके भेड़ें हैं
और जिसका गडरिया
उन्हें गलत राह दिखाता है

इस कविता के बारे में और कुछ बताने की ज़रूरत नहीं है।

इधर के कुछ युवा कवियों की कविताएं अपने रूप-रंग और दृष्टि में एक नई उम्मीद जगाती हैं। इस संदर्भ में जयराम सिंह जय, डॉ. शोभा शिंदे, डॉ. सरोज कुमारी, डॉ. राधा वाल्मीकि और सुशील द्विवेदी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जयराम सिंह जय के एक गीत की प्रारंभिक पंक्तियाँ देखिए—

पथ में बहता खून-पसीना / उसको सब मंजूर है
अपनी बात सुनाता हरदम / सुनता नहीं हुजूर है
मन में स्वप्न सुनहरे लेकर
छोड़ा अपना गाँव गली
घर से शहर कमाने निकले
संग-संग चल दी 'रामकली'
किसी तरह जब मिला ठिकाना
मन प्रसन्न परदेश में
लुटी रात भर कली-कली थी
इज्जत पल में चली गई
मन को मारे सोच रहे थे / कैसी दिल्ली क्रूर है

कितने सधे शब्दों में जय ने एक व्यक्ति के गाँव छोड़ने, शहर जाने और वहाँ अपनी इज्जत के लुट जाने की पीड़ा और शहर की क्रूरता का वर्णन कर दिया है। इसी तरह डॉ. राधा वाल्मीकि ने भी भूख की वजह से गाँव छोड़कर शहर आए मज़दूरों के पलायन का यथातथ्य वर्णन किया है—

सड़कें भरी हैं मजदूरों से
हाय ये कैसी है मजबूरी।
सभी कायदे धरे रह गए,
कहाँ गई सामाजिक दूरी।
जाने कितने सपने लेकर
मैं गाँव से निकला था।
बच्चे भूखे ना रहें बस
यही मेरी थी मजबूरी।

पिछले कई वर्षों से मीडिया—खास तौर से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया—का स्वरूप बदला हुआ है। वह बहुजन सुखाय बहुजन हिताय के सिद्धांत से अलग हो गया है। जनसाधारण के सवालों से मुख मोड़ चुके मीडियाकर्मी सत्ता के मुखापेक्षी बने हुए हैं। औपनिवेशिक शासन के दौरान 'पायोनियर' सत्ता-समर्थक अखबार था। उसकी चुटकी लेते हुए अकबर इलाहाबादी ने लिखा था—

घर से खत आया है कि हो चुका है चहल्लुम उनका
पायोनियर कहता है बीमार का हाल अच्छा है।

इस शेर को वर्तमान मीडिया पर लागू कर सकते हैं। जयराम जय ने इसी मीडिया को पक्षपातपूर्ण रिपोर्टिंग से तौबा करने की सलाह दी है—

सच को सच तू कहना सीख
सच से अब मत आँखें मींच
मत गोदी में उनकी बैठ
यदि है सच्चा खबरनवीस

संजय कुंदन ने गोदी मीडिया पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि वह झूठ को ही सच के रूप में परोस रहा है। इस समय कविता ही है जो लोगों तक सच को पहुँचा रही है—

अखबारों में एक नायक की दाढ़ी भी खबर है
कविता की, उस दाढ़ी में छिपे तिनके पर नज़र है

सरोज कुमारी ने इधर कुछ बेहतरीन कवितों लिखी हैं। इस दौर में अधिकांश कवियों ने शहर से गाँव के लिए मज़दूरों के पलायन और पलायन के समय की त्रासदी को अपनी कविता का विषय बनाया है। शहर और उसकी रिक्तता तथा शहरी लोगों की पीड़ा को बहुत कम कवियों ने शब्दबद्ध किया है। सरोज की कविता 'सन्नाटा' उस सन्नाटे को तोड़ती है। देखिए—

मेरे घर के सामने
दूर तक पसरी खामोशी
बहुत बेचैन कर जाती है
सड़क पर पड़े हुए पत्तों की खड़खड़ाहट
हृदय को झकझोर देती है

बौर से लदे हुए मुरझाये आम के पेड़ पर
कोयल अब भी आती है
गाती है कोई शोकगीत

सरोज की कविता 'मुंडेरन' अपने कथ्य में भिन्न है। कोरोना महामारी के चलते लोग मास्क लगाने के लिए मजबूर हुए हैं। यह मास्क उनकी उलझन का कारण है। सरोज ने भारतीय समाज में स्त्री की उस स्थिति की ओर संकेत किया है जिसकी ओर पुरुषों ने कभी ध्यान ही नहीं दिया। वास्तव में लम्बे घूँघट और घर में क़ैद रहने के लिए अभिशप्त स्त्रियाँ कैसे अपना जीवन गुज़ारती रही हैं, उनकी इसी पीड़ा की ओर सरोज ने ध्यान दिलाया है।

मृदुला सिंह (अम्बिकापुर) ने भी उस पीड़ा को स्वर देते हुए लिखा है कि पुरुष दो महीने में ही लॉक डाउन से ऊब गए, लेकिन स्त्रियाँ तो सदियों से लॉक डाउन में रहती आई हैं—

जानना हो उनके मन का तो तोड़ो ताले
बरसों पुरानी उनकी जंग लगी संदूकों के
मिलेंगे उसमें थोड़े पहाड़ी बादल के टुकड़े
खुला सा आकाश / थोड़ी धूप / थोड़ी हवा
और कुछ सोन चिड़िया के सुनहरे पंख
जिन पर सदियों का लॉक डाउन है

गुंजन श्रीवास्तव 'विधान' की लिखी कोरोना के बारे में जानती थी दादी शीर्षक कविता में भी कोरोना के बहाने घर-परिवार में भी स्त्रियों के उपेक्षित और एकाकी जीवन को सामने लाने की कोशिश की गई है। हम भी स्त्रियों के उस जीवन के साक्षी रहे हैं। घर-परिवार में बहुओं के कार्य-व्यापार, उठने-बैठने, हँसने-बोलने पर बारीक नज़र रखी जाती थी। हाथ-भर के घूँघट में सिकुड़ी-सिमटी-सी रहने वाली बहूँ 'अम्मा' और 'बाबूजी' के कठोर नियंत्रण में रहा करती थीं। गुंजन ने लिखा है—

मेरी बूढ़ी हो चली दादी को
हो गई थी सत्तर वर्ष पहले ही
कोरोना वायरस के आने की खबर
वो कह रही थी बबुआ हम तो बचपन से ही

किसी से न मिले रहे
घूँघट रहा इसलिए मास्क की ज़रूरत ही न पड़ी
घर में ही रहना होता था
और हाथ मिलाना तो वैसे भी बाबूजी मना कर गए थे
भारतीय समाज की संरचना को देखने से स्पष्ट
पता चलता है कि घर-परिवार और समाज में स्त्री को
कितने प्रतिबंधों के बीच रहना पड़ता था। पुरुष सत्तात्मक
समाज में पुरुष ही नहीं, बल्कि पुरुष मानसिकता से
आक्रांत स्त्रियाँ भी स्त्रियों की स्वतंत्रता की विरोधी रही हैं।
तुलसीदास युगीन समाज की तरह वे मानती रही हैं कि
स्वतंत्र होने से स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं। और समाज में ऐसी
बिगड़ी हुई स्त्रियों को अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता रहा
है—

महाबृष्टि चलीं फूटि कियारी।
जिमी सुतंत्र होइ बिगरहिं नारी।।

कोरोना काल स्त्री-काल भी रहा है। इस दौर में
स्त्रियों ने कई सांस्कृतिक बंधनों को तोड़ा है। ज्योति
कुमारी ने गुरुग्राम से दरभंगा तक की साइकिल से यात्रा
करके पूरी दुनिया का ध्यान अपनी ओर खींचा। ज्योति
का कारनामा वाकई काबिले-तारीफ है। उस पर कई
कवियों ने कवितों लिखी हैं। एक चिट्ठी ज्योति बेटी के
नाम कविता में सुभाष राय ने उड़ीसा के नन्हे धावक
बुधिया सिंह को याद करते हुए ज्योति को सचेत किया
है कि अपनी नाकामियों को छिपाने के लिए सरकारें
तात्कालिक रूप से इन ग़रीब-वंचित प्रतिभाओं को सुन्दर
सपने दिखाती हैं और कुछ समय बाद उन्हें भूल जाती
हैं। सुभाष ने आखीर में लिखा है कि—

सुनो ! कोई भी दिक्कत आए
तो बोलना, चुप मत रह जाना

इस सन्दर्भ में कृष्ण कल्पित की 'डूब मरो'
कविता भी द्रष्टव्य है। यह कविता दिल को छूती है—

मैं तुम्हारे तलुओं पर
जैतून के तेल की मालिश करना चाहता हूँ

जिन हाथों से थामा था तुमने साइकिल का हैंडल
मैं उन हाथों को चूमना चाहता हूँ

गुरुग्राम से दरभंगा तक

अपने घायल पिता को कैरियर पर बिठाकर
ले जाने वाली स्वर्णपरी
मैं तुम्हारी जय-जयकार करना चाहता हूँ
तुम्हारी करुणा तुम्हारा प्यार तुम्हारा साहस देखकर
हैरान हूँ
आश्चर्य से खुली हुई हैं मेरी आँखें
मैं उन तमाम 33 कोटि देवी-देवताओं को बर्खास्त
करना चाहता हूँ
जिन्होंने नहीं की तुम पर पुष्प-वर्षा
मोटर-गाड़ियों रेल-गाड़ियों और हवाई-जहाज़ों का
आविष्कार
क्या आततायियों अपराधियों और धनपशुओं के लिए
किया गया था

इस महामारी में तुमने अपने चपल-पाँवों से
1200 किलोमीटर तक भारतीय सड़कों पर सात
दिनों तक जो
महाकाव्य लिखा था वह पर्याप्त है इस देश के
महाकवियों को शर्मिदा करने के लिए

डूब मरो शासको
डूब मरो कवियो
डूब मरो महाजानो

ओ, साइकिल चलाने वाली मेरी बेटी
मैं तुम्हें अंतस्तल से प्यार करना चाहता हूँ।

किन्तु अकेली ज्योति ही इस तरह का कारनामा
करने वाली लड़की नहीं है। इन विकट स्थितियों से
संघर्ष करने वाली अनेक स्त्रियों और उनके साहसिक
कृत्य से हम सभी परिचित हैं। उनके कृत्य, उनकी पीड़ों
और उनकी निर्द्वंद्व सोच स्वयं में बेहतरीन कवितों हैं।
जेल में बंद सफूरा ज़रगर के बारे में लोगों ने पता नहीं
क्या क्या अनाप-शनाप कहा था। वह सब स्त्री की
मर्यादा के विरुद्ध था। सफूरा की अजन्मी बिटिया की
ओर से लिखी गई अंशु मालवीय की कविता उन
अमर्यादाओं के प्रतिपक्ष में खड़ी है। देखिए—

सब कुछ ठीक है अम्मा!

तुम जेल की कोठरी में हो
और मैं तुम्हारी कोख में

तुम अपने वतन में हो
 मैं अपने वतन में
 सलाखों से रिसती धूप
 रौशनदान से झाँकती चाँदनी
 तुम्हारी धड़कन में सीझकर पहुंचते हैं मेरे पास।

कृष्ण कल्पित भले ही कहें कि मैं उन तमाम 33 कोटि देवी-देवताओं को बर्खास्त करना चाहता हूँ / जिन्होंने नहीं की तुम पर पुष्प-वर्षा, किन्तु विज्ञान पर आस्था और अन्धविश्वास भारी पड़ते नज़र आ रहे हैं। कोरोना संकट से मुक्ति के लिए लोगों ने कोरोना माई को अवतरित कर लिया है। गाँव-देहात में पुष्प-अक्षत और लड्डू-रोली से कोरोना माई की पूजा शुरू हो चुकी है। जिस देश में ताली और घंटे-घड़ियाल से कोरोना संकट से मुक्ति को बेहतर समझा गया हो, उस देश में कोरोना माई का अवतरित हो जाना विस्मयकारी नहीं है। उड़ीसा के एक पुजारी ने तो कोरोना महामारी से मुक्ति के लिए सरपंच की बलि ही दे दी थी। और कोरोना से मुक्ति के लिए एक युवती ने अपनी जीभ ही काट डाली थी। इस अन्धविश्वास को लेकर सुशील द्विवेदी ने एक कविता लिखी है, जिसका शीर्षक है कोरोना देवी। देवी के प्रकट होते ही जो जो क्रियाकलाप होने लगते हैं, सुशील ने उन सबका बहुत सुन्दर वर्णन किया है—

गाँव के सीवान में
 पुराने पीपल के नीचे
 कोरोना देवी का एक मन्दिर बनाया गया
 और पूर्वी दीवार पर लिखा गया एक मन्त्र—
 या देवी सर्वभूतेषु कोरोनारूपेण संसितः
 नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः

डॉ. नन्दलाल भारती की भी एक शीर्षक विहीन कविता है, जिसमें भूखे-प्यासे मज़दूरों के पलायन, रास्ते में मरते मज़दूरों, सड़क पर बच्चा पैदा होने की घटना आदि का ज़िक्र किया गया है। अंत में लेखक ने लिखा है कि एक तरफ मुसीबतों की कराह लिए मज़दूर का / सफ़र निरंतर जारी है और दूसरी तरफ राजनीति के दंगल में जंग जारी है।

निस्संदेह कोरोना काल में लिखी गई कविताएं अपने समय का ऐतिहासिक दस्तावेज़ हैं। ये कवितों

अपने समाज से संवाद कायम करने की कोशिश करती हैं। बहुत-सी कविताएं अपने रूप-विन्यास और कविताई के पैमाने पर भले ही कालजयी रचना न बन पायें, लेकिन वे तात्कालिक धर्म का निर्वाह करने में सफल हुई हैं। इन कविताओं में एक विराट त्रासदी को लघु-लघु रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनमें किसी एक से कोरोना महामारी से उत्पन्न त्रासद और अमानवीय स्थिति का नक्शा नहीं उभर पाता, किन्तु सबको मिलाकर पढ़ने से उसका सम्यक बोध हो जाता है। इन कविताओं में दुःख की गहरी परतें हैं, विडंबना का पारदर्शी आवरण है जो व्यंग्य (और कहीं-कहीं करुणा मिश्रित व्यंग्य) को संवेदनात्मक अवबोध से मुक्त करके ज्ञानात्मक अवबोध की ओर ले जाता है। इन कविताओं में अवसाद अवश्य है, किन्तु भविष्य के प्रति सहज अनुरक्ति भी है। डॉ. शोभा शिंदे की जिंदा रहे तो फिर आएं कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

तुम्हारे शहरों को आबाद करने
 वहीं मिलेंगे गगनचुम्बी इमारतों के नीचे
 प्लास्टिक की तिरपाल से ढकी अपनी झुगियों में

एक उल्लेखनीय बात यह है कि, हिन्दी के कवियों की नज़र सिर्फ अपने आसपास की हलचलों तक ही सीमित नहीं है। दुनिया में महामारी से उत्पन्न त्रासदी सर्वत्र एक जैसी नहीं है, फिर भी हिन्दी के अधिकांश कवियों ने अपने यहाँ के श्रमिकों और स्त्रियों के प्रति ही अपनी संवेदना व्यक्त की है। कोरोना प्रभावित दुनिया के किसी मुल्क में संभवतः ऐसी स्थितियाँ नहीं रही हैं। लेकिन अमेरिका में नस्ली हिंसा का शिकार हुए जॉर्ज फ्लॉयड को लेकर ज़रूर कवितों लिखी गईं। मदन कश्यप की कविता मैं साँस नहीं ले पा रहा हूँ देखिए—

वह न रोया / न गिड़गिड़ाया
 न दया की भीख माँगी
 बस एक सच को / अपने समय
 और समाज के सत्य को / तथ्य की तरह रखा
 साँस टूटने से पहले की / आखिरी आवाज़ थी
 मैं साँस नहीं ले पा रहा हूँ !

इस दौर में लिखी गई कुछ कविताएं कविता के रूप में होते हुए भी कविताएं नहीं हैं। ऐसी कवितानुमा

साहित्य मेघ

कविताओं के लेखक सोशल मीडिया के सामान्य उपभोक्ता हैं अथवा किसी संगठन के पदाधिकारी या प्रवक्ता। बी आर पी के राष्ट्रीय प्रवक्ता दीपक वर्मा 'निशांत' की शीर्षक विहीन कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ देखें—

देश के गद्दारों ने मिलकर, कोरोना को फैलाया है।
सुरक्षा का समय मिला तो, क्यों व्यर्थ में जाया है।
जनमानस के जीवन को, मुखिया ने नरक बनाया है।
संकट था जब कोरोना का, काहे ट्रम्प बुलाया है।
अगर चीन में उदय हुआ तो, भारत कैसे आया है।

और फिर इसमें लॉक डाउन में घटी कुछ घटनाओं और सामान्य लोगों की बदहाली का वर्णन किया गया है। ऐसी तुकांतपरक रचनाओं में कविताई भले न हो, लेकिन विचार बहुत अच्छे और सामयिक हैं। इस तरह के रचनाकारों को इतना तो मालूम है कि कविता का प्रयोग कब और किन संदर्भों में किया जाना चाहिए।

यातना के शिकार मज़दूरों के प्रति कुछ असंवेदनशील लोग उनसे नितांत निस्पृह हैं। उनकी दया, माया, ममता, करुणा और परोपकार—सब स्वार्थ से प्रेरित हैं। चुटकी भर चावल, पाव भर पिसान और दस-बीस पाउच पानी बाँटकर महादानी होने का दंभ करने वाले लोग 'दान' का विज्ञापन करने के लिए फ़ोटो खिंचवाने और वीडियो बनाने में व्यस्त हैं। निस्संदेह कुछ लोग परदे के पीछे से पीड़ित मानवता के सूखते गले को तर करने में लगे हुए हैं, लेकिन वे कम हैं।

आज की कविताओं में कथ्य और भाव या विचार के स्तर पर समानता दिखाई देती है। कुछ विषय और घटनाओं तो लोगों के दिलों को इस क़दर छू गए हैं कि उन पर बहुत सारे लोगों ने कविताएं लिखी हैं। सभी छोटे-बड़े कवि सोशल मीडिया पर लगातार अपनी कविताएं पोस्ट करते रहे हैं। हमारी अपनी संस्था 'संवाद' तथा दूसरी संवाद-धर्मी संस्थाओं ने भी एकल काव्य पाठ और कवि-गोष्ठी के ज़रिये अपने समय की विद्रूपताओं को सामने लाने का काम किया है।

देश में हर कहीं एक संशय है। लगातार बढ़ता हुआ संशय कि इस भयावह समय में जबकि उम्मीदें भी दम तोड़ती नज़र आ रही हैं, हमारा क्या होगा? कोरोना काल ने हमें हमारी औकात बता दी है। इस दौर में जबकि पूरी दुनिया के सपनों पर ब्रेक लग गया है, हमारा कल कितना निराशाजनक और त्रासद होगा। संभव है युद्ध या प्रलय के बाद जैसी स्थितियों का सामना करना पड़े हमें। क्या कोरोना संकट से मुक्त होने के बाद बचा रहेगा हमारे बीच वह स्वाभाविक स्वस्थ राग-भाव जो मनुष्यों की अपनी विशिष्ट पहचान है। समालोचन में प्रकाशित अशोक वाजपेयी की ही एक छोटी-सी क्या? शीर्षक कविता पेश कर रहा हूँ—

क्या उत्तर दोगे तुम
जब वे पूछेंगे कि वह नीली आभा कहाँ गई?
कहाँ गया वह मांसल लाल
कहाँ वह हरियाती पीतिमा?

कैसे कहोगे तुम
कि शब्दों में अंत नहीं पाया
वह हल्का हरा अँधेरा
वह ओस की बूँद पर एक पल को चमकी धूप
वह शहर छोड़कर भूखे भागते आदमी का लाचार
चेहरा
वह सब कुछ से बेखबर हवा में फुदकती चिड़िया की
चहचहाहट की स्वरलिपि?

क्या होगा तुम्हारे पास अभी भी बचा
जब तुम लौटोगे भाषा की घाटियों में
जो हरा-भरा हो और जीवन से भरपूर?

संपर्क :
प्रो. चन्द्रदेव यादव
हिन्दी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया
नई दिल्ली-110025
मो. नं. 9818158745
email : cdsyadav@gmail.com



फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : जहर पीते रहे गीत गाते रहे

प्रोफेसर राम आह्लाद चौधरी

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की सृजनात्मक प्रतिभा सर्वविदित है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने प्रगतिशीलता को आधार बनाकर कला को एक ऐसी ऊँचाई प्रदान की, जिसकी छाया में दुनिया सदा सुकून महसूस करेगी। उनकी रचनात्मक जद्दोजहद का आधार है; किसी स्थिति या परिस्थिति में आलोचनात्मक तरीके से हस्तक्षेप करना। जो व्यक्ति आलोचनात्मक तरीके से हस्तक्षेप करता है, वही व्यक्ति प्रयोग करता है। प्रयोग की कामयाबी व्यक्ति की काबलियत पर निर्भर करती है, किन्तु कामयाबी के नजर से ही हर चीज का मूल्यांकन संभव नहीं है। मूल्यांकन के हजारों तौर-तरीके हो सकते हैं, लेकिन वही कामयाबी जिंदगी को रौशन करती है जिसमें सबकी भलाई की भावना छिपी हो। याद रखने की बात यह है कि सिर्फ भलाई की भावना के प्रचार-प्रसार से काम नहीं चलता है। इस भावना को आदर्श की दृष्टि से देखा जाता है। दरअसल यह आदर्श पूरी तरह से भावनात्मक समर्थन तक सीमित होता है। सिर्फ समर्थन से दुनिया नहीं बदल जाती है। उसे कारगर करने के लिए अधिक से अधिक लोगों के पास जाना पड़ता है। यह क्षमता उन्हीं रचनाकारों में होती है, जिन रचनाकारों ने विश्वास को स्थापित करने के लिए इंसानियत की जमीन को ऊर्वर बनाने के उद्देश्य से अपनी कलम को तलवार का रूप दिया है तथा वह कलम कुछ काले-काले शब्द नहीं उगलती है, बल्कि वे शब्द अंगारे के रूप में आते हैं तथा लहू को गर्म करते हैं। जिन रचनाकारों के शब्द लहू को गर्म करने में सफल होते हैं, वही शब्द कालांतर में आलोक स्तम्भ बनते हैं। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के शब्द अंधेरे को चीरते हुए नयी सुबह लाने के हौसले रखते हैं।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ को यह विश्वास था कि वही रचना देश-दुनिया के लिए अहमियत रखती है, जिसमें

दृष्टि हो, जो परिस्थिति की सच्चाई को समझ सके और परिस्थिति की उलझन को सुलझा सके; साथ ही हस्तक्षेप करने की क्षमता रखे। हस्तक्षेप करने की क्षमता उसी रचना में होती है, जो इंसानियत की प्रगति के लिए सतत् काम करती है कहने का अभिप्राय यही है कि इंसानियत की भावधारा को प्रगति-पथ पर अग्रसर किये बिना आगे बढ़ना नामुमकिन है। इस सिलसिले में याद रखने की जरूरत यही है कि रचना चाहे किसी तरह की हो या चाहे किसी की हो उसमें सच को स्थापित करने की काबलियत होनी चाहिए तथा मुख्य रूप से वह रचना यह साबित करने में कामयाब हो कि आखिर किस कारण प्रगति की धारा पर कौन हावी हो गया है। और जो हावी हो गया है, उसे कैसे हटाया जा सके; यह एक मुख्य सवाल है। इस सवाल को सुलझाये बिना आगे बढ़ना नामुमकिन होता है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताएं इसी भावलोक की दुनिया को आबाद करती हैं। असांस्कृतिक कचड़ों को साफ करती हुई उनकी कविताएं समाज में एकजुटता की न केवल वकालत करती हैं बल्कि मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं। उनकी कविताओं में न केवल अभिव्यक्ति की आजादी के लिए शब्दभेदी वाण छिपे हैं बल्कि उनकी कविताएं प्रतिवाद की अग्नि-दीक्षा हैं, जिसके ताप को सभी बर्दाश्त नहीं कर पाते हैं। खासकर उनकी कविताएं बिम्ब-धर्मी होती हुई भी तथाकथित मसीहों को खुली चुनौती देती हैं, उस चुनौती का मुकाबला करने की क्षमता उन मसीहों में नहीं है। गरीबों को विधाता के भरोसे छोड़ देने वाले मसीहों को तख्त से जमीन पर पटकने की कला को स्थापित करते हुए फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने यही संदेश इस दुनिया को दिया कि सच बोलने की ताकत बढ़ाओ। इसके बिना समाज का कल्याण नहीं हो सकता है। समाज की क्रांति के लिए

राजनीतिक मुक्ति आवश्यक है। यह मुक्ति तभी संभव है, जब शत्रु को समझने की भरसक कोशिश कामयाब हो सके। इस संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जनता का वही शत्रु है, जिसने उसे हिंसा-बर्बरता-घुटन-अभिशाप के जरिए घेर लिया है। लगातार हिंसा को बढ़ाने से समाज भीतर ही भीतर चटक जाता है और जब समाज एक बार चटक जाता है, तब भला उसे सही रास्ते पर लाना मुश्किल हो जाता है। संस्कृति के नाम पर निजीपन को बढ़ा देना, सभ्यता के नाम खून-खराबा को प्रश्रय देना न उचित है और न जरूरी है लेकिन इस कार्य को पूरे धड़ल्ले से अंजाम दिया जाता है और यही कारण है कि पूरे समाज को गरीबी के घटाटोप से बाहर निकालना नामुमकिन हो जाता है। यह काम चाहे जितना कठिन हो, लेकिन उसे सामने लाने की कोशिश ही रचनात्मक सृजन है। इस सृजन को कलात्मक सृजन से अभिहित करना उचित है, क्योंकि यही कला इंसानियत के लिए मार्ग प्रशस्त करती है, जिसके लिए थोड़ी ताकत की जरूरत पड़ती है। यह ताकत आती कहां से है, यह ताकत समन्वयात्मक सहमति से आती है। किसने कह दिया कि असहमति से विकास की धारा तेज होती है। यदि कोई इस धारा को तेज करने का व्रत ठान लेता है; तो उसे कौन रोक पाएगा। जैसा कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने यह ऐलान कर दिया था कि मुल्क की आजादी के लिए उनकी लेखनी तीव्र से तीव्र गति से तब तक चलेगी, जब तक मुल्क आजाद नहीं हो जाता है। मुल्क आजाद हो गया; लेकिन गुलामी का कचड़ा साफ करना अभी बाकी है। इस काम को पूरा करने के उद्देश्य से फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं को एक बार फिर 'एप्लाइड क्रिटिसिज्म' के नजरिये से देखना उचित है।

उनकी कविताओं की खासियत यही है कि हर तरह की बंधन को तोड़ते हुए एक विकल्प स्थापित करती हैं, जहां किसी तरह की उलझनें नहीं उत्पन्न होती हैं बल्कि एक शानदार प्रस्तुति के जरिये सफर सहज बन जाता है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं में कुछ विद्वानों ने फ़ारसी के शब्दों को ढूँढ़ते हुए यह बताया कि इस तरह के प्रयोग के चलते उनकी कवितों दुरूह और कठिन हो गयी हैं। दरअसल उनकी कवितों फ़ारसी-अरबी शब्दों के चलते कठिन नहीं हुई हैं। कविताओं को

शब्दों के प्रयोग से कठिन नहीं बनाया जा सकता है। कविता तब कठिन बन जाती है, जब वह जिंदगी की आग से खेलने लगती है। जो समझ में आ जाता है, वह आसान होता है। समझ में वही आता है, जिसे पहचाना जाता है। जिसे नहीं पहचाना जाता है; उसकी पहचान कराना उचित है। कठिन को सरल बनाने के लिए आलोचना की दृष्टि को साफ करने की आवश्यकता होती है। यह सच है कि किसी रचनाकार की रचना पर विविध दृष्टियों से विचार करना उचित है तथा इस अनुशीलन को आगे बढ़ाना भी वक्त का तकाजा है। जिसको उनकी कविताओं में उदासी नजर आती है; वही व्यक्ति एक क्षण के बाद कहता है कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं में जोश ही जोश है, जिसको उनकी कविताओं में दुरूहता नजर आती है, वही उनकी कविताओं की सरलता पर रोशनी डालने में खुद को झोंक देता है। रचनाकार को अपनी बातों को हिम्मत से कहना पड़ता है, चाहे परिस्थितियां जटिल से जटिलतर क्यों न हो जाँ, जैसा कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने लिखा है: 'माता-ए-लौट-ओ-कलम छिन गयी तो क्या गम है/कि खूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने /जबां पे मुहर लगी है तो क्या; कि रख दी है/ हरेक हलकए-जंजीर में ज़बां मैंने/ '

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ में खुली चुनौती देने की हिम्मत है, आखिर यह हिम्मत आती कहां से है, यह हिम्मत समझदारी से आती है। यह समझदारी वस्तुनिष्ठ अध्ययन की उपज है, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की एक प्रसिद्ध कविता है: 'आजाओ अफरीका'। इस कविता की चंद पंक्तियों को बानगी के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे यह पता चलता है कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की नज्मों में जोशीले जज्बात के साथ उदासी किस कदर आती है। प्रस्तुत है चंद पंक्तियाँ:

'आ जाओ, मैंने धूल से माथा उठा लिया/
आ जाओ, मैंने छील दी आंखों से गम की छाल/
आ जाओ, मैंने दर्द से बाजू छुड़ा लिया/
आ जाओ, मैंने नोच दिया बेकसी का जाल /
'आ जाओ अफरीका'/
पंजे में हथकड़ी की कड़ी बन गयी है गुर्ज/

गरदन का तौक तोड़ के ढाली है मैंने ढाल/
 'आ जाओ अफ्रीका'/
 जलते हैं हर कंधार में भालू के मृग नैन/
 दुश्मन लहू से रात की कालिख हुई हैं लाल/
 'आ जाओ अफ्रीका'/'

दुश्मन लहू से जब रात की कालिख लाल हो जाती है, तब यह समस्या आती है कि इस दुश्मन लहू का जवाब क्या होगा। इस कालिख को कालिख कहने का साहस तभी मिलता है; जब कालिख और लहू की पहचान हो। यह पहचान करना सहज नहीं होती है। लगातार संघर्ष के जरिये इसे हासिल किया जाता है। सच तो यह है कि इंसानियत में गहरी आस्था के बिना साहित्य से जुड़ना असंभव है। फ्रैंज़ अहमद फ्रैंज़ को इंसानियत में गहरी आस्था है। इसलिए उन्होंने साहित्य के विकास पर जोर देते हुए कहा कि आजादी और संप्रभुता के बिना साहित्यिक धारा का विकास संभव नहीं है। इस सिलसिले में मानवीय बुराइयों को खत्म करना तथा उन बुराइयों से लगातार लड़ना आसान नहीं होता है। इस सच्चाई से फ्रैंज़ अहमद फ्रैंज़ पूरी तरह से अवगत हैं। और यही कारण है कि उनकी रचनाएं बार-बार हर तरह की मानवीय बुराइयों के विरुद्ध आवाज बुलंद करती हैं। यह आवाज चाहे जितनी गंभीर हो, एक बात जो बार-बार नजर आती है, वह यही है कि 'दुश्मन लहू' को पहचानना आवश्यक है। उपनिवेशवाद और नस्लवाद के खात्मा के बिना साहित्य का स्वाभाविक विकास असंभव है। इस असंभव कार्य को नया रूप देते हुए फ्रैंज़ अहमद फ्रैंज़ ने कहा कि बौद्धिकता को मजबूत करते हुए बौद्धिकों को लामबंद करना आवश्यक है, तभी जाकर शांति स्थापित हो सकती है। अमन के शत्रु पूरे समाज को बेचैन करने पर आमादा रहते हैं। समाज में जितना उथल-पुथल होता है, उतनी सुविधों मानवता के शत्रुओं को प्राप्त होती हैं। ऐसी स्थिति में सृजन बाधित होता है। शांति और सृजन को आगे बढ़ाने के लिए शांति मुहैया करना सबसे जरूरी है। इसके बिना सृजन का काम आगे नहीं बढ़ पाता है। सृजन मानवीय बुराइयों के विरुद्ध लगातार संघर्ष करता है। इस संघर्ष के जरिये इंसानियत का विकास होता है। यही कारण है कि पूरे समाज को पूरी तन्मयता के साथ शांति के पक्ष में

आवाज बुलंद करनी पड़ती है। यदि आवाज बुलंद करने से काम बन जाता है, तो यह पूरी तरह से एक अवसरवादी रुझान है। साहित्यकार को हर अवसरवादी रुझान के विरुद्ध लड़ना पड़ता है। यह लड़ाई कठिन होती है। खासकर यह लड़ाई तब और कठिन हो जाती है, जब यथार्थ के नगाड़े बजाये जाते हैं। फ्रैंज़ अहमद फ्रैंज़ को अयथार्थ के नगाड़े पसंद नहीं थे। इसलिए कि अयथार्थ के नगाड़े ने इस संसार को भ्रम में डाला है। यह अलग बात है कि किसने इस नगाड़े को बजाया है और उसके बजाने के पीछे क्या मंशा रही है। यह भी साफ-साफ है; शोर मचाना और सिंहासन दखल करना। शोर मचाकर सिंहासन हथियाने से समाज का भला न कभी हुआ है और न कभी उसका भला होगा। इस स्थिति में दो टूक आवाज में प्रतिरोध करते हुए सुन्दर-सच-स्वाधीनता के लिए जो लड़ता है, वही समाज के भविष्य को बचाता है तथा खासकर लेखकों को अभिप्रेरित करता है। विचार को सृजनात्मक कला के जरिये उपस्थित करना सबसे बड़ा काम है। इस काम को बड़े पैमाने पर उपस्थित करने के उद्देश्य से विश्व शांति के लिए लगातार लिखने का अनुशीलन करना फ्रैंज़ अहमद फ्रैंज़ की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसकी चर्चा करने मात्र से युद्ध के विरुद्ध माहौल नहीं बन सकता है, लेकिन शांति का माहौल बनाना क्यों आवश्यक है, इसका जवाब जरूर मिल जाता है। इस जवाब की गहराई में जाने के बाद यह रेखांकित करना आवश्यक है कि आखिर हमारे समाज की समस्याएं क्या-क्या हैं? यदि गौर फरमाया जाए, तो यही लगता है कि आर्थिक विषमता, अर्ध-सत्य, अविवेकशील विकास, भीतरी विसंगतियां, नकली दंभ, आपसी कलह ही मुख्य समस्याएं हैं। इन समस्याओं को इसी आधार पर देखना उचित होगा कि वे सारी समस्याएं सामाजिक समस्याएं हैं। इन समस्याओं का निराकरण करने के लिए सामाजिक क्रांति की जरूरत होती है। समाज धीरे-धीरे सामाजिक क्रांति की तरफ बढ़ने लगता है। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता है कि सामाजिक क्रांति अगली सुबह होने जा रही है। पर यह सच है कि राजनीतिक क्रांति के बाद जो राष्ट्रीय स्वाधीनता हासिल होती है; उस स्वाधीनता को पूर्णता प्रदान करने के लिए सामाजिक क्रांति को बढ़ाना जरूरी है। यदि यह क्रांति सफल होती है, तो सांस्कृतिक समस्याओं भी समाप्त

हो सकती हैं। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने बार-बार समाज को स्थिर करने तथा हर तरह की समस्याओं को दूर करने पर जोर दिया है।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने निजी अनुभव को इस तरह व्यापकता प्रदान की है कि उनका काव्यात्मक रचना विश्व-काव्य की अमूल्य निधि बन गया है। भारी से भारी दबाव के बावजूद उन्होंने हथियार नहीं डाला है। उनकी रचनाओं में आशा ही आशा है। निष्प्राण जीव में प्राण फूंकने की कविताओं के सृजक फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा को प्राच्य और पाश्चात्य से मिलाने का सार्थक प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्हें पूर्ण सफलता इसलिए हासिल हुई है कि उन्होंने कहीं भी संकीर्णता को जगह नहीं दी है। संकीर्णता और अवसरवादिता सबसे बड़ी बीमारी है; इस तरह की बीमारियों से ऊपर उठते ही महत्वपूर्ण रचनाओं का सृजन संभव है। उनकी शैली में जिंदगीबोलती है। ऐसी मोहक अवधारणा को फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने बड़ी मार्मिकता के साथ हाजिर किया है। उनके काव्य में उपस्थित निधि का आकलन करते हुए मुहम्मद हसन ने फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की काव्यात्मक प्रतिभा के संबंध में लिखा है- 'फ़ैज़ का काव्य यथार्थ पर रंगीन पर्दा डालने वाला काव्य नहीं है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यही है कि वह दुःख को अपनाकर और अपना ही नहीं; संपूर्ण विश्व का दुःख अपनाकर उसे दूर करने का निदान सोचने और दुःख से प्राप्त हुई शक्ति और साहस और आशा को जगाती है और एक उज्ज्वल भविष्य पर विश्वास पैदा करती है। यही सच्चाई, यही ताजगी, यही उन्मुक्तता और यही दुःख व पीड़ा से प्राप्त हुआ जीवनदान और निवारण-शक्ति फ़ैज़ की पहचान है। '

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं का एक गुण है कि पाठकों को एक नयी दुनिया की ओर ले जाना तथा विभिन्न तरह के फूल को खिलाना। अक्सर यह होता है कि कविताओं में जो भावनों और दर्शन मौजूद हैं। उन सभी पहलुओं को पाठकों को समझना पड़ता है; लेकिन फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं में विवेक का अनुशीलन ज्यादा हुआ है। इसके बिना सही अर्थों में काव्यात्मक सृजन का अर्थ समझ में नहीं आता है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ एक गंभीर रचनाकार हैं, लेकिन उन्होंने सदा अपने

पाठकों का ध्यान रखा है। इसलिए उनकी रचनाओं का कोई वैसा मानदंड नहीं है; जो काव्यात्मक दुनिया के लिए अपरिचित हो। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने काव्य के विविध रंग को उपस्थित करते हुए आनंद प्राप्त करने की कई तर्कों को इस तरह सजाया है कि पाठक अपनी बुद्धिमत्ता के आधार पर उनके काव्य का आनंद विविध कोण से लेता है, जो फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की सृजनात्मकता की अहम् विशेषता है। उनके काव्य के अर्थ एकपक्षीय नहीं हैं। विभिन्न पक्षों को उपस्थित करते हुए उन्होंने काव्य के विविध कोण को इस तरह उपस्थित किया है कि उसके अर्थ भी विविध हैं। अर्थ की विविधता फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं की सबसे बड़ी महत्ता है। इस पर टिप्पणी करते हुए मुहम्मद हसन ने सही लिखा है- '... फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविता उर्दू की ही नहीं हमारी राष्ट्रीय बल्कि विश्व-काव्य की अमूल्य धरोहर है और इसके अध्ययन से दिशा और ज्ञान के नये मार्ग-प्रशस्त होते हैं। ' इसी दिशा और ज्ञान की तरफ फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कलम चलती है। उन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा को जागरूकता से जोड़ने का काम किया है, जो आवाम में ज्ञान का वर्द्धन करता है। विद्वानों ने उनकी कविताओं में इस जागरूकता के तत्त्व को निहारा है। यह सच है कि कविता में अलख जगाने की ताकत होती है। इस तरफ फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने दृष्टि डाली है, जो उनकी कविताओं की एक प्रवृत्ति बन गयी है। 'सोच' कविता में उन्होंने लिखा है: 'बेफिक्र धन दौलत वाले/ये आखिर क्यों खुश रहते हैं/ उनका सुख आपस में बांटे/ ये भी आखिर हम जैसे हैं/ हमने माना जंग कड़ी है/ सर फूटेंगे खून बहेगा/ खून में गम भी न रहेगा/ '

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने काव्य में परंपरा और आधुनिकता को जिस तरह से स्थान दिया है, उस पर काव्य-जगत सदा गौरव करेगा। उन्होंने परंपरा का ज्यों का त्यों इस्तेमाल नहीं किया है। परंपरा की गहरी समझ उनके काव्य में विकसित हुई है। ऐसा इसलिए संभव हो सका है कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने वैज्ञानिक चिंतन को स्थापित करने की शानदार कोशिश की है। उनका चिंतन विज्ञान और तर्क को लेकर चलता है। इस तार्किकता के चलते उनकी भंगिमा खिलखिलाने लगती है, जिसे कोई भी पसंद करता है। काव्य की परिधि बढ़

जाती है। इस परिधि को उन्होंने कई मोर्चों में बांट दिया है। एक मोर्चा वह है, जिस मोर्चे पर उन्होंने विषय वस्तु को स्वाभाविक बनाकर रखा है; दूसरी तरफ कला के स्तर पर काव्य परिधि को उन्मुक्त कर दिया है। पाठक अपने ज्ञान के आधार पर कविता पढ़ते हैं। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि पाठकों पर थोपने के बजाय, उनसे संलाप स्थापित किया जाए। यह संलाप उनकी काव्य भाषा को दूर तक ले जाता है। शुरू से लेकर अंत तक पाठक कविता का रसास्वादन करते हैं, जिसके दरम्यान पाठक को सिर्फ आनंद ही नहीं मिलता है बल्कि एक समझदारी भी मिलती है। पाठक यह महसूस करता है कि इस कविता को पढ़ने से क्या हासिल हुआ? उनकी कविता को पढ़ने से यह अनुभूति होती है कि कितनी दूरी तय की गयी यानी भाषा, समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति के प्रति जो समझदारी कविता पढ़ने से पहले तक थी, वह और कहाँ तक पहुँच पायी। यह पाठक की बात रही; लेकिन पाठकों के लिए ऐसी कविताओं को मुहैया कराने के लिए कवि को कितना श्रम करना पड़ा, यह कवि ही जानता है। इसके लिए कवि फ़ैज़ को कई मोर्चों पर लड़ना ही नहीं पड़ता बल्कि जीत हासिल करते हुए पाठकों से यह कहना पड़ता है कि इस तरह की मोर्चाबंदी क्यों जरूरी है।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के जरिए यह निधारित किया है कि हर घटना की समझदारी को पाठकों के साथ साझा करते हुए उन्हें हस्तक्षेप करने की प्रक्रिया में शामिल किया जाए। इसलिए वे भाषा के पीछे दौड़ लगाने की कोशिश नहीं करते हैं, उन्हें यह भी पता है कि भाषा का कोई वर्गीय आधार नहीं होता है। उस आधार को मजबूत करने के लिए परंपरा के जो शब्द हैं, उन शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। इस प्रयोग को देखकर कुछ आलोचकों ने यह आरोप भी लगाया है कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं में धार्मिक उपक्रमों का प्रयोग हुआ। सच यह है कि परंपरा की निधि को स्वीकार करते हुए उन्होंने अतीत और वर्तमान के द्वंद्व को भी रेखांकित किया है। इस द्वंद्व को उन्होंने प्रगति के रूप में स्वीकार किया है; जिसकी झलक पूरी तरह से दिखती है।

यही वह बिंदु है, जिसके आधार पर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के काव्यात्मक सृजन का विकास हुआ है। इसकी गति भी तेज है और प्रभाव भी गहरा है। इसका एक उदाहरण देखा जा सकता है: 'हर हकीकत मजाज़ हो जाये/ काफ़िरों की नमाज़ हो जाये/ इश्क दिल में रहे तो रुखा हो/ लब पे आये तो राज हो जाये/' वास्तविकता को नये अंदाज में उपस्थित करने के लिए फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने उन तमाम उपादानों का इस्तेमाल किया है, जिसका इस्तेमाल अक्सर नहीं किया जाता है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में जादू दिखने लगता है। इस जादू का असर काफी दूर तक ही सीमित नहीं रहता है बल्कि एक नये काव्य क्षितिज को हाज़िर करती है, जिससे उनके कलात्मक सृजन को एक सार्थकता हासिल होती है। इस सार्थकता का दर्शन कोई कर सकता है। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत करना उचित दिखता है, जैसा कि उन्होंने लिखा है: 'दिल मेरा कोहो-दमन, दश्ते-चमन की हद है/ मेरे कैसे में है रातों का सियहफाम जलाल/ मेरे हाथों में है सुबह की अनामन कलकू/ मेरे आगोश में पलती है खुदाई सारी/ मेरे मकदूर में है मोजजेए-कुन-फ़यकू'

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ जो कहना चाहते हैं, वह खुलकर कहते हैं, जैसा कि उनका आवेदन इस प्रकार लक्षित होता है: 'मेरा दर्द नगमाए बेसदा/ मेरी जात जर्द। बेनिशा/ मेरे दर्द को जो जबां मिले/ मुझे अपना नामो-निशां मिले/ मुझे राज नज़्में जहां मिले/ मेरी खामोशी को बयां मिले/ मुझे कायनात की सरवारी/ मुझे दौलते-दो जहां मिले/'

उनकी शायरी के संबंध में कहा गया कि सीधी है और सरल भी। उनकी नज़्मों में आलोचकों ने कठिन शब्दों का पहाड़ देखा है। प्रस्तुत पंक्तियों को देखने से यह पता चलता है कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं को पढ़ना कितना सहज है। सहज कविताओं के अर्थ सहज हों ऐसी बात नहीं है, कभी-कभी वह अत्यंत कठिन हो जाता है। इस संबंध में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का विश्वास अत्यंत सुन्दर है, जो मिठास से ओतप्रोत है; जैसा कि उन्होंने लिखा है- 'अब क्यों दिन की फिर करो/ जब दिल टुकड़े हो जायेगा/ और सारे गम मिट जायेंगे/ तुम खौफो-खतर से दर गुजरो/ जो होना है तो

होना है/ गर हंसना है तो हंसना है/ गर रोना है तो रोना है/ तुम अपनी करनी कर गुजरो/ जो होगा देखा जायेगा/ उन्होंने बार-बार काम करने पर बल दिया, फल उसका क्या होगा, उस पर विचार करना व्यर्थ है। व्यर्थ की चिंताओं में उनकी लेखनी नहीं फंसती है। कर गुजरने वाले कभी फल पर नहीं आश लगाते हैं; चाहे जो हो, उससे सामना करना उनकी नियति बन जाती है। उनकी कविताओं में जिस तरह से आशा का संचार हुआ है, वह अपने ढंग का है। आशा रखने की चाहत कहां से आती है; इस पर भी विचार करना जरूरी है, हर आशा फलीभूत होती भी नहीं है। उसे फलीभूत होनी भी नहीं चाहिए। लगातार विश्वास के जरिये संघर्ष के मैदान में डटे रहने की हिम्मत आती है। यही हिम्मत त्यागी और तपस्वी बनाती है। सवाल यह है कि क्या इसका सही मूल्यांकन होता है; मूल्यांकन कौन किसका करता है; यदि कोई मूल्यांकन कर पाया है, तो उसे क्षेत्र से अलग हटना ही पड़ेगा।

इस क्षेत्र में रहने वालों को पूरी हिम्मत के साथ सदा जूझना पड़ता है। इसके लिए सुनना पड़ता है, जो सुनता है, वही काम करता है। इस जटिल संरचना को किस तरह सहज बना दिया गया है, उस पर गौर करना आवश्यक हो जाता है, जैसा कि उन्होंने लिखा है: 'अब इल्लिफ़ात निगार सहर की बात सुनो/ सहर की बात उम्मीद-सहर की बात सुनो/' उन्होंने यह भी रचा है कि जहर पीने वाले ही गीत गाते हैं। हर कोई गीत नहीं गा सकता है। जो सुनेगा, वही समझेगा और जो समझता है, वही ज़हर पीता है।

ज़हर पीने वालों के सामने इस दुनिया को झुकना ही पड़ता है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के शब्दों में: 'हर एक दौर में हम, हर जमाने में हम/ ज़हर पीते रहे, गीत गाते रहे/' यह वास्तविक सच है कि मेहनतकशों के अलावा इस दुनिया में और कौन है, जो हर, जमाने का जहर चखा हो दरअसल फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कवितों जहर को अमृत बनाने वाली कवितों हैं।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं की भंगिमा राजनीतिक नहीं है; वह विशुद्ध इंसानियत की जज्बात को लेकर चलने वाली है; जो हर मुश्किल को परखना

चाहती है। इस सिलसिले में ठहरना सबसे बड़ी कार्य-शैली है। इस कार्य-शैली को क्या काव्य-कौशल कहना अनुचित होगा। उन्होंने राजनीतिक शब्दावलियों को नहीं अपनाया है और न धार्मिक शब्दावलियों को पनाह दी है। शब्दों का प्रयोग करना ही कवि का कमाल है, जिसका उन्होंने सदा खयाल रखा है; जैसा कि उनकी कविताओं की इन दो पंक्तियों पर ध्यान दिया जा सकता है ;'या ख़ौफ़ से दर गुजरे या जां से गुजर जाये/मरना है या जीना है इक बार ठहर जायें/'

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ सदा आदरणीय बने रहेंगे, इसलिए कि उनकी कविताओं की अन्तर्वस्तु कहीं से उधार नहीं ली गयी है, वह समाज की मांग बन गयी है। उन्होंने सामाजिक मांगों को पूरे ध्यान से सुना है तथा उसके अनुसार हस्तक्षेप किया है। इस संबंध में मुहम्मद अली सिद्दीकी का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि ' एक ऐसे दौर में जब साहित्य और रोमांचक विधाओं के सभी विधाओं के सभी विभागों ने वे सारे काम अपने जिम्मे ले लिये हैं जब दूसरे समाज में सभी विभागों की उपस्थिति में अपने-अपने ढांचों में पूरे किये जाते हैं। यह कठिन कार्य बहुत हद तक बड़ी खूबसूरती के साथ पूरा किया जा रहा है। फ़ैज़ ने इस जिम्मेदारी को जिस ढंग से बखूबी निभाया है वह नयी पीढ़ी के मन में इस तरह बैठ गया है कि अब तकनीक और रूप के लिए विद्रोह शायरी का असली उद्देश्य यानी अंतर्वस्तु के लिए विद्रोह नहीं रह गया है। फ़ैज़ अपने अनुयायियों और बागियों के लिए केवल इस कारण से भी आदरणीय रहेंगे कि उनकी काव्य-शैली से बगावत अब बहुत कठिन है। '

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ शायर हैं, जिनकी लेखनी क्रियात्मक रचनाशीलता का पर्याय एक हद तक है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ किसी समाज सुधारक या राजनीतिक की तरह एक बिन्दु पर नहीं जमे रहते हैं बल्कि संस्कृति रूपी महासमुद्र में बार-बार गोताखोरी करते हैं। अमूल्य निधि को पाने के लिए लगातार सहजता का जाल फेकते हैं, लेकिन किसी लोभ या लालच के कारण ऐसा नहीं करते हैं। लगातार एक वैज्ञानिक चिंतन को आगे बढ़ाते हैं, इसके लिए वे इंतजार करते हैं। इस इंतजार में उन्हें किसी तरह की परेशानी नहीं होती है, ऐसी बात नहीं है,

लेकिन उसको झेलते हैं तथा झेलने की औकात का इजाफा भी करते हैं। परेशानी और मुश्किल को साझा करने का अंदाज भी उनका देखने लायक है; जैसा कि उन्होंने लिखा है: 'बहारे-हुस्ने ये पाबंदि-ए-जफ़ा कब तक? ये आजामाइशे-सब्रे-गुरेजपा कब तक?/ कसम तुम्हारी बहुत गम उठा चुका हूँ मैं/ गलत था दावए-सब्रे-शकेब आ जाओ/ करारे-खातिरे बेताब थक गया हूँ मैं/ ' लेकिन इन पंक्तियों में थकान नहीं झलकती है; उल्टे यह अहसास होता है कि और इंतजार है। सही अर्थों में इंतजार करने वाला थकता नहीं है, समय ज्यों-ज्यों गुजरता है, सकी परिपक्वता और ताकतवर हो जाती है। हर बेताबी का हँसते हुए झेलने की कोशिश कारगर साबित होते नजर आने लगता है, जहां ख़ाब इस तरह से उपस्थित होता है:

'साजे-दिल के खमोश तारों से/ छन रहा है खुमार
फ़ैज़ आर्गी/ आरजू, ख़ाब, तेरा रूप हसीं!'

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ इस दुनिया को बड़ी गंभीरता से देखते हैं तथा अनुभवहीन दिल के संबंध में उनकी टिप्पणी भी अमर है। उन्होंने किस तरह का चित्र प्रस्तुत किया है, उसका एक नजारा देखना जरूरी है। उनकी पंक्तियां प्रस्तुत हैं 'दुनिया ने तेरी याद से बेगाना कर दिया/ तुझ से भी दिल फ़रेब हैं ग़म रोज़गार के/ भूले से मुस्करा तो दिये थे वो आज 'फ़ैज़'/ मत पूछो वलवले दिले-ना-कदीकार के/' बात-बात में उदासी को एक मिठास भरे अहसास के साथ उपस्थित करने में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का जैसा जोर है, वैसा किसी और कवि का जोर नहीं दिखता है। उनके शब्दों में : 'वीरां है मयकदा, खुमो-सागर उदास है/ तुम क्या गये कि रूठ गये दिन बहार के/'

उन्हें इश्क पर पूरा विश्वास है। इसके भरोसे हर बाजी को मात देने की कला उनके यहां चुपचाप आ जाती है। इन पंक्तियों में उन्होंने इश्क को एक नये अंदाज में लिखा है: 'मैदाने -वफ़ा दरबार नहीं, यां नाम-नसब की पूछ कहां/ आशिक तो किसी का नाम नहीं, कुछ इश्क किसी की जात नहीं/ हर बाजी इश्क की बाजी है, जो चाहो लगा दो डर कैसा/ गर जीत गये तो क्या कहना, हारे भी तो बाजी मात नहीं/'

जेल में रहते समय भी उन्होंने इतनी नज़में लिखी हैं कि हर तरफ से उनकी प्रशंसा हुई है। इसलिए यह प्रशंसा हुई है कि उन्होंने दर्द को हँसते-हँसते झेला है। दुःख-दर्द के क्षण को किस तरह झेला जाता है, इस तरफ ध्यान देना आवश्यक हो जाता है और इस कठिनाई को सहज बनाना आसान नहीं होता है। कठिनाई को अपने शब्दों के ताप से फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने इस तरह पिघला दिया है, जैसे किसी कारीगर ने सोने को पिघलाकर एक अनोखा रूप दे दिया है। गम के रंगों को तलाशते-तलाशते उनकी यात्रा इस मंजिल तक पहुँच जाती है, जिस मंजिल को देखने वाले कई तरह की उदासियों से बाहर निकलकर सामने आ जाते हैं। सही मायने में उनकी लेखनी रुकती नहीं है। यहां तक कि पैगाम के बुझने या दिल के बुझने के बावजूद उनकी यात्रा जारी रहती है। यह यात्रा चाहे जितनी कठिन हो, उनकी कविता संदेश देती है। ऐसा संदेश और कहां मिलता है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के ज्ञानात्मक विवेक का सच्चा रूप इन पंक्तियों में उभर कर सामने आया है। उनके शब्दों में- 'बहुत संभाला वफा का पैमां मगर वो बरसी है अबके बरखा/हर एक इकरार मिट गया है, तमाम पैगाम बुझ गये हैं/ करीब आ ऐ महे-शबे-गम नजर पे / खुलता नहीं कुछ इस दम/ कि दिल पे किस-किसका नक्श बाकी है कौन से नाम बुझ गये हैं/ बहार अब आके क्या करेगी कि जिनसे था जश्ने-रंगो-नग्मा/ वे गुल सरे-शाख जल गये हैं, वो दिल तहे-ताम बुझ गये हैं/' उनकी कविताओं में शब्द दबे पैर नहीं आते, पूरी तैयारी के साथ शब्द अपने अर्थ को सार्थक करते नजर आते हैं। शब्द जीवन की सार्थकता पर रोशनी डालते हैं ; साथ ही, व्यवस्था पर जो रंगीनी पदी है, उसे नोंचकर बाहर फेंक देते हैं। यही कारण है कि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ को कहना पड़ता है कि पहली सी मुहब्बत न मांग। यह उनकी प्रसिद्ध कविता है, जिसमें उन्होंने तिलिस्म को किस तरह तोड़ते हुए यह ऐलान किया कि इस दुनिया में मुहब्बत के अलावे और दुःख हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि वस्ल की राहत ही अंतिम ऐलान नहीं है। प्रणय होने से राहत नहीं मिल जाती है। वस्ल यानी मिलन या प्रणय के बाद की स्थितियों का उन्होंने जायजा लिया है, जैसा कि इसी कविता में उन्होंने लिखा है-

‘मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग/
मैंने समझा था कि तू है तो दरखाश है हयात/ तेरा गम
है तो गमे-दहर का झगड़ा क्या है/ तेही सूरत से है
आलममें बहारों को सबात/ तेरी आंखों के सिवा दुनिया
में रक्खा क्या है/ तू जो मिल जाये तो तकदीर नगू हो
जाये/ यूं न था, मैंने फ़कत चाहा था यूं हो जाये/ और
भी दुःख है जमाने में मुहब्बत के सिवा/ राहतें और भी
है वस्त की राहत के सिवा/’

जो जिंदा है, वही बोलता है और जो बोलता है,
वही जिंदा रहता है। विविधता को व्यापकता देने की
कला फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की सबसे बड़ी विशेषता है। यह
भी कहा जा सकता है कि यही उनकी कविताओं की
प्रवृत्ति है। उनकी काव्य प्रवृत्ति में आकर्षण है यह कहा
जा सकता है कि उस प्रवृत्ति का सुतवां दिखने योग्य है।
सुडौलपन दरअसल प्रवृत्ति की उपज है। इस उपज को
फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ खलिहान तक पहुँचाने की कोशिश
करते नज़र आते हैं। उनकी एक कविता है- ‘बोल’। इस
कविता की चंद पंक्तियों पर ध्यान देना जरूरी है, जैसा
कि उन्होंने लिखा है- ‘फ़ैला हर एक जंजीर का दामन/
बोल ये थोड़ा वक्त बहुत ही/ जिस्मो-जबां की मौत से
पहले/ बोल, कि सच जिंदा है अब तक/ बोल, जो कुछ
कहना है कह ले/’

इस कविता में बोल-शब्द के प्रयोग से एक
हुनरमंदी आ गयी है। इस कला में कहीं तामझाम नहीं
है। स्वाभाविक स्थिति में बोलने की ताकत जीवन को
विविध रंगों से रंगने की कोशिश करती है; यह ताकत
एक अपील की तरह उपस्थित हुई है; यही ताकत जब
सिर चढ़कर बोलने लगती है, तब स्थिति भयावह हो
जाती है। भयावह स्थिति से बाहर निकलने की कोशिश
करने के सिलसिले में बोलना कितना जरूरी हो जाता
है, यह बात सिर्फ राजनीतिक स्तर पर भी नहीं समझी जा
सकती है बल्कि इसके लिए लगातार संघर्ष करना पड़ता
है, जैसा उन्होंने लिखा है: ‘यूं ही हमेशा उलझती रही
है जुल्म से ख़तक/ न उनकी रस्म नयी है, न अपनी रीत
नयी/ यूं ही हमेशा खिलाये हैं हमने आग में फूल/ न
उनकी हार नयी न अपनी जीत नयी/’

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने ‘सज्जाद ज़हीर के नाम’

शीर्षक कविता में सज्जाद ज़हीर के प्रति जो शोक प्रकट
किया है, वैसा शोक प्रकट करने की शक्ति भी शायद
कहीं हो, जैसा कि उन्होंने लिखा है- ‘बिसाते-बादा-ओ-
मीना उठा लो/ बढ़ा दो शम्फ-महफिल, बज्मवालो/ पियो
अब जामे-अलविदाई/ पियो, और पीके सागर तोड़
डालों/’ इसी तरह उन्होंने मखदूम की याद करते हुए
लिखा- ‘आपकी यादआती रही रात भर/ चांदनी दिल
दुखाती रही रात भर/ एक उम्मीद से दिल बदल रहा/
इक तमन्ना सताती रही रात भर/’ उनके यहां काम और
इश्क के अन्तर्विरोधों को सुन्दर तरीके से हाजिर किया
गया। हर तरह की उलझनों के बीच से बाहर निकलना
तथा नामुमकिन को मुमकिन बनाना फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
की सबसे बड़ी काव्यात्मक विशेषता है, जैसा कि उन्होंने
लिखा है:- ‘काम इश्क के आड़े आता रहा/ और इश्क
से काम उलझता रहा/ फिर आखिर तंग आकर हमने/
दोनों को अधूरा छोड़ दिया/’

कभी-कभी उन्होंने छोड़ने की बातें कही हैं, लेकिन
उस छोड़ने में भी पकड़ने की तमन्ना छिपी हुई है। इंसान
की एक तमन्ना होती है, इसका अंदाज फ़ैज़ अहमद
फ़ैज़ की रचनाओं से सहज पता चल जाता है। यही
कारण है कि उन्होंने फिलिस्तीनी बच्चों के लिए लोरी
लिखी है। यदि विश्व साहित्य पर नजर दी जाए, तो ऐसे
लोगों का कहीं और मिलना मुश्किल है। सिर्फ भावना के
स्तर पर ही नहीं बल्कि ज्ञान के स्तर पर भी इसका रूप
कुछ अनोखा ही है। ज्ञान और भावना को जो एक दूसरे
का विरोधी समझते हैं, उन्हें इस पर ध्यान देना जरूरी
है कि ज्ञान की शुरुआत भावना से होती है और भावना
की शुरुआत ज्ञान से। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ज्ञान और
भावना को परस्पर विरोधी नहीं मानते हुए यह करने का
प्रयास किया कि इन दोनों के अन्तःसम्बन्धों को दुनिया
के हित में प्रस्तुत करना फौरी कर्तव्य है। अत्योक्तियों के
सामने सारी चीजें बेकार साबित होने लगती हैं, वहीं एक
बार के लिए बोल-भरोसे से भविष्य को सुरक्षित किया
जा सकता है। भविष्य को सुरक्षित करना एक महती
कार्य है। इस कार्य की तरफ ध्यान खींचते हुए फ़ैज़
अहमद फ़ैज़ ने लिखा है: ‘मत रो बच्चें/ अगर तू रोयोगा
तो ये सब/ अम्मी अब्बा, बाजी, भाई/चांद और सूरज/’

और भी तुझको रुलवायेंगे/ तू मुस्कायेगा तो शायद/ सारे
इक दिन भेस बदल कर/ तुझसे खेलने लौट आयेंगे/’

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ को मुस्कराने में यकीन है।
उनका प्रसिद्ध गीत है:-‘चलो फिर से मुस्करायें/ चलो
फिर से दिल जलायें/ जो गुजर गयी हैं रातें/ उन्हें फिर
जगा के लायें/ जोबिसर गयी हैं बातें/ उन्हें याद में
बुलायें/ चलो फिर से मुस्करायें/’

शमशेर बहादुर सिंह ने फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की
कला का रेखांकन करते हुए लिखा है; ‘फ़ैज़ वहीं हैं जहां
असलियत बोलती है, भाषा की हदों से ऊपर उठकर
बोलती है और अपने लहजों में नर्म और गर्म तेवर से
हमारी जिंदगी के बहुत से राज खोलती चलती है... वो
राज जिनसे रुह तो वाकिफ है मगर जिन पर बुर्जुआ और
सामंती सियासत और तानाशाही ने शोषण और अत्याचार
के धुआंधार पर्दे डाल रखे हैं, अगर्चे वह बहुत कुछ ढंक
नहीं भी पा रहे हैं। हाँ, इसी मंच पर फ़ैज़ की शायरी
अपनी आवाज बुलंद करती है।’ शमशेर बहादुर सिंह
ने ठीक ही लिखा है कि फ़ैज़ की शायरी बुलंद आवाज
है। उसकी काव्यात्मक बुलंदी मानव संस्कृति को महत्त्वपूर्ण
आधार देती है। आफ़ताब अहमद ने उनके व्यक्तित्व-
कृतित्व पर रोशनी डालते हुए लिखा है-‘... उन्होंने बड़ी
रंगारंग और भरपूर जिंदगी गुजारी। एक व्यक्ति की
हैसियत से उनकी सबसे बड़ी खूबी उनका रचा और गुंथा
हुआ व्यक्तित्व था, जिसने जमाने के उतार-चढ़ाव को
बड़े सलीके के साथ अपने अंदर समो रखा था।’

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने जिस तरह से अपने व्यक्तित्व
का निर्माण किया, ठीक उसी तरह से उन्होंने अपनी
कल्पना के जरिए मौजूदा यथार्थ को विकसित किया।
उन्हें यह पूरा विश्वास था कि कल्पना के जरिए कोई
कलाकार युग की सच्चाइयों का सृजन करता है। यह
काम कोई वैज्ञानिक नहीं कर सकता है। एक वैज्ञानिक
यथार्थ का सिर्फ़ फोटो खींच सकता है, लेकिन यथार्थ

का चित्र कलाकार ही बना सकता है, क्योंकि कलाकार
की प्रगतिशीलता कहीं रुकती नहीं है, वह लगातार आगे
बढ़ती रहती। यह प्रगतिशीलता अनवरत प्रक्रिया है; यदि
वह बंद हो जाए, तो प्रगतिशीलता एक तरह से अवरुद्ध
हो जाती है। इस विश्वास के साथ फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की
काव्यात्मक प्रतिभा अपना रंग दिखलाती है। उनकी
कविताओं को पढ़ने से यह लगता है कि कविता वही
कविता कहलाती है, जो काव्य के गुणों का वहन करती
हो, उसके बाद ही उसके अन्य गुणों की चर्चो होती हैं।
कवि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के काव्य-व्यक्तित्व का आकलन
करने से यही पता चलता है कि कविता न भावना के
आधार पर लिखी जा सकती और न ज्ञान के आधार पर,
कविता तभी अपना सच दिखाती है, जब उसमें अनुभूति
का सही-सही प्रयोग हो सके। उनके यहां कविताएं
दुरूहता के रूप में नहीं आयी हैं; सहजता और सरलता
के गायक फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने हमेशा गम को अपनी
आंखों से देखा है तथा गम की छाल को आंखों से छीलने
का प्रयास किया है, इस काम में उनकी कामयाबी सदा
विराजमान होकर बुलंद होती रहेगी। कलात्मक सृजन की
कामयाबी को डंके की चोट पर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने इस
दुनिया के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा कि जिंदगी बहुत
कुछ देती है; सवाल है कि इसको किस तरह सुरक्षित
रखा जाए। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के शब्दों में जिंदगी के गम
को इस प्रकार देखा जा सकता है;

‘बहुत मिला न मिला जिंदगी से गम क्या है/
मताए दर्द बहम है तो बैशो-कम क्या है/
अजल के हाथ कोई आ रहा है परवाना/
न जाने आज की फेहरिस्त में रकम क्या है/
सजाओ बज़्म गजल गाओ जाम ताजा करो/
बहुत सही गमे-गेती, शराब कम क्या है/’

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ सच की तहों तक जाने वाले
कवियों में अन्यतम कवि हैं।



कोरोना वैक्सीन भी पॉजिटिव हुई

तेजेंद्र शर्मा

भारत में चुनाव हुए हैं। किसान आन्दोलन चल रहा है। बंगाल में राजनीति गरम है। इन सब गतिविधियों से पता चलता है कि भारत में शायद कोरोना की एक नयी वेव आ सकती है क्योंकि न तो चुनावी सभाओं में, न ही किसान आन्दोलन में और न ही बंगाल में फ़ेसमॉस्क और सोशल डिस्टेंसिंग का ध्यान रखा जा रहा है। याद रहे जब तक भारत अपनी वैक्सीन का विकास नहीं कर पाता, तब तक का मन्त्र एक ही है – ‘जो डरेगा, वो बचेगा।’

कोरोना वैक्सीन के सिलसिले में 11 दिसम्बर बहुत ही महत्वपूर्ण दिन माना जा सकता है। इतिहास में लिखा जाएगा कि ऑस्ट्रेलिया ऐसा पहला देश बना जिसने कि कोरोना वैक्सीन के बनाने और टेस्ट करने पर रोक लगा दी है। किस्सा कुछ यूं हुआ कि जिन लोगों पर ये टेस्ट किये गये उनमें से कुछ लोगों में एच.आई.वी. के लक्षण पैदा हो गये। यानि कि दवा का ऐसा उल्टा असर!

इन टेस्टों का आयोजन क्वीन्सलैण्ड विश्वविद्यालय एवं ऑस्ट्रेलिया बायोटेक फ़र्म सी.एस.एल. द्वारा किया गया था। ऑस्ट्रेलिया का अपना 750 मिलियन डॉलर का वैक्सीन कार्यक्रम चल रहा था।

मगर ऑस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री स्कॉट मॉरीसन ने एक प्रेस कॉन्फ़्रेंस में कहा कि इस प्रोजेक्ट को मुलतवी किया जा रहा है क्योंकि यहां विश्वास का मामला है जिससे खिलवाड़ नहीं किया जा सकता।

क्वीन्सलैण्ड विश्वविद्यालय ने ज़ोर देर कहा कि ऐसी कोई संभावना नहीं है कि वैक्सीन से किसी प्रकार का इन्फ़ेक्शन हो रहा है। उनका कहना है कि परीक्षणों से साफ़ होता है कि जिन्हें वैक्सीन दी गयी उनके शरीर में एच.आई.वी. के कोई लक्षण मौजूद नहीं हैं।

इधर ब्रिटेन में भी दो हेल्थ वर्कर्स में कोरोना वैक्सीन लेने के बाद एलर्जी रिएक्शन हुए। ब्रिटेन में फ़ाइज़र बायो एन-टेक की वैक्सीन इस्तेमाल की जा रही है जिसे माइनस सत्तर से अस्सी डिग्री तक स्टोर करने की ज़रूरत है।

ब्रिटेन के उच्च मेडिकल अधिकारी डॉ. जून रेन ने कहा कि हम उन दोनों मामलों पर नज़र रखे हैं। घबराने जैसी कोई स्थिति नहीं है। उन दोनों पर निगाह रखी जा रही है।

ब्रिटेन में टेस्टिंग के लिये 44,000 लोगों को चुना गया है। इनमें से 42,000 को दूसरी बार वैक्सीन दी जा चुकी है।

विश्व भर में कोरोना केंसों के मामले में यदि हम पहले दस देशों पर निगाह डालें तो, अमरीका (1,64,25,038), भारत (98,54,201), ब्राज़ील (68,43,232), रूस (26,25,848), फ़्रांस (23,65,319), यू.के. (18,30,956), इटली (18,25,775), तुर्की (18,09,809), स्पेन (17,41,439), और अर्जन्टीना (1,48,932) सामने आते हैं।

वहीं जब कोविड19 से ज़िन्दगी की लड़ाई हार गये लोगों के बारे में सोचते हैं तो टॉप टेन देशों के आंकड़े कुछ इस प्रकार हैं – अमरीका (3,04,142), ब्राज़ील (1,80,552), भारत (1,42,994), इटली (64,036), यू.के. (64,026), फ़्रांस (57,761), स्पेन (47,624), रूस (46,453), अर्जन्टीना (40,606), कोलम्बिया (38,669)।

भारतीय स्टेट बैंक के उच्चाधिकारी सतीश सिंह का मानना है कि भारत में कोरोना से लड़ाई के मामले में उत्तर पूर्वी राज्य सबसे अधिक सफल रहे हैं। उसके बाद नंबर आता है बिहार और उत्तर प्रदेश का। भारत में संक्रमितों की संख्या अनुमान से 466166 कम है, जो यह दर्शाता है कि भारत ने दूसरे देशों के मुक़ाबले कोरोना वायरस के संक्रमण को रोकने के मामले में उम्दा काम किया है।

भारत में चुनाव हुए हैं। किसान आन्दोलन चल रहा है। बंगाल में राजनीति गरम है। इन सब गतिविधियों से पता चलता है कि भारत में शायद कोरोना की एक नयी वेव आ सकती है क्योंकि न तो चुनावी सभाओं में, न ही किसान आन्दोलन में और न ही बंगाल में फ़ेसमॉस्क और सोशल डिस्टेंसिंग का ध्यान रखा जा रहा है।

याद रहे जबतक भारत अपनी वैक्सीन का विकास नहीं कर पाता, तब तक का मन्त्र एक ही है – ‘जो डरेगा, वो बचेगा।’



पांडे जी के अद्भुत किस्से

डॉ. लालित्य ललित

पांडे जी कभी-कभी महसूस करते हैं जमाना बड़ी तेजी से जा रहा है। वह कहां जा रहा है उसको भी नहीं पता। वह क्यों जा रहा है इसकी कोई जानकारी नहीं।

पांडे जी ने सोचा इस बार इस सर्दी में कुछ नया करेंगे। अब नया क्या करेंगे! उनको भी नहीं पता ना रामप्यारी को पता। ना चीकू को पता। लेकिन भैया कुछ नया कुछ तो नया होना चाहिए।

अगर नया नहीं होगा ना तो सर्दी कैसी ! वैसे भाई साहब सरदी जी का तो अपना मजा है। अगर आधी रात को भी पांडेय जी को जगा के कोई ये कह दें कि खाओगे गूंद के लड्डू। मजाल क्या कि अपने विलायती राम पांडेय जी कभी मना कर दें। खुश हो कर कहते हैं कि जी अपने शब्दकोश में न शब्द है ही नहीं।

अब जब से रामखेलावन अपने गांव औरंगाबाद गए हैं। वहां से बैठे-बैठे सोशल मीडिया पर फोटो चिपका रहे हैं। कभी तुरई, घीया के साथ कभी गोभी के साथ पांडे जी ने कह दिया ज्यादा तोरई और गोभी मत खाइयो। भैया और आते वक्त तिलकुट जरूर ले आइयो। नहीं तो दिल्ली में प्रवेश नहीं मिलेगा। रामखेलावन ये बात जानते हैं कि बिना तिलकुट लाए पांडेय जी की नाराज़गी झेलनी ओढ़ सकती है, जो उनको भी पसन्द नहीं।

अच्छा बात भी सही है एक तरफ तो दिल्ली में बॉर्डर अटे पड़े हैं किसान आंदोलन के साथ किसान नेता जी गजब कहते हैं सरकार की तो ना तो चाय पिएंगे ना रोटी खाएंगे अब उनके साथ जो टीम है न! गुरुद्वारे वाली हैना भैया अब लंगर है भैया रोटी मिलती है दाल मिलती है। चावल कढ़ी सब मिल रहा है।

पांडे जी भी सोच रहे हैं कि एक बार तो वह भी सिंधु बॉर्डर में घूम आए। किसान भी कमाल के है यह है कि अगर ठंडे पानी की बौछार उनके दिल पर पड़ गए तो क्या होगा लेकिन साहब किसान तो अन्नदाता है अगर मोबाइल वाले थपेड़े पलट खाएगा तो क्या होगा! अब समस्या का निदान कब होगा ! कुछ लोगों को पता है।

टिप्सी मुटरेजा के मन में भी है कुछ बॉर्डर पर मदद कर आऊं। लेकिन सूरज मुटरेजा ने मना कर दिया तभी से टिप्सी मुंह फुलाए बैठी है इसी बात पर देविका गजोधर से भी अनबन हो गई। सुना है देविका गजोधर ने तो ब्रेड पकोड़े बना लिए। अब साहब ब्रेड पकोड़ा बनते भी जल्दी है। रात ही दुआ की दुकान पर बोल दिया था सुबह 5 ब्रेड बड़ी वाली भेज देना। अब पांच फुल ब्रेड ब्रेड पकोड़ा बना दिए। छोटे छोटे बन गए हैं हिंदुस्तान जो अपना है वह परोपकारी लोगों से भरा था जिसे देखो मदद के लिए आता दिख रहा है।

उधर टीवी पर पांडे जी देख रहे हैं कि एक पढ़े लिखे किसान परिवार के सिविल इंजीनियर की शादी हुई। सोनीपत से पानीपत जाना है। दूल्हा मर्सीडीज में जाने की बजाय कहता है किबड़ा जानी थी कि भैया ट्रैक्टर पर जाऊंगा। न्यूज़ में आऊंगा। ये भी कहानी है और नए किस्सों से भरी हुई है।

छुट्टी का दिन रामप्यारी ने पूछ लिया पांडे जी से बड़े प्यार से सुनो जी! क्या खाओगे आज !

पांडे जी ने कह दिया क्यों आज बड़ा प्यार आ रहा!

पांडे जी ने भी लगे हाथ कह दिया कि मन तो मेरा हो रहा ब्रेड पकोड़ा खाने का.

रामप्यारी ने बोला पहले बताना था आलू को उबालना पड़ता है। आई बात समझ में। आपकी तो जबान हिल जाती है, काम तो मुझे करना पड़ता है।

चुपचाप सुन लिया था, पांडे जी ने।

पर उनका मुंह बन गया। रामप्यारी ने सुबह सुबह ही डांट दिया। इधर चीकू को पता चला तो वह हंसने लगा। लेकिन साहब रामप्यारी तो रामप्यारी है ब्रेड पकोड़े बन गए। पांडे जी ने कहा कि 2 से हमारा कुछ ना होगा हम तो 3 लेंगे।

रामप्यारी को पता है कि इनका दो से काम नहीं चलेगा तो उसने तीन दे दिए। साथ में चाय भी दे दीं।

अब पांडे जी लगे हैं बतियाने अपने पिताजी से कि देश में ये हो गया। और वे हो गया। उधर पिताजी भी हां हूं हां हूं करते रहे। बुजुर्ग आदमी और क्या करेंगे।

इधर कोरोनावायरस एक्टिव मॉड पर है। उनकी गली के तीन टपक गए। हालत खराब है।

क्या होगा क्या नहीं। रामप्यारी ने कहा आज तो मौसम भी अच्छा है सोच रही हूँ कि चांदनी चौक घूम आऊं। पांडे जी ने कहा मैं भी चलूँ!

रामप्यारी ने कहा कि आपके चलने का मतलब है कि अनावश्यक का खर्चा।

मैं तो अपनी बहन के साथ ही जाऊंगी और उसी के साथ ही आऊंगी। बड़े दिन से नॉवल्टी के भल्ले नहीं खाये न!। खरीदारी की खरीदारी हो जाएगी और स्ट्रीट के स्वाद का चटखारे भी ले लेंगे।

पांडेय जी ने जोर से कहा: जय माता की। जैसे देवी के विचार।

चीकू के साथ मिलकर रामप्यारी को मेट्रो पर छोड़ दिया। और चीकू के साथ घर को लौट आया। लेकिन रास्ते भर चीकू यही कहता रहा कि यह दिलवा दो। मोमोज दिलवा दो। टिक्की खिला दो।

पांडे जी ने बोला तू है क्या चीज़। जब देखो खाने की बात करता है। अबे कभी पढ़ भी लिया कर। पढ़ाई

ही काम आएगी, समझा!

चीकू पढ़ कर पक गया। कहने लगा।

पढ़ कर क्या करूँ

क्या आज ही कलेक्टर बन जाऊंगा!

आप भी न! बात करते हो।

पांडेय जी ने कहा कि बेटा। बात तो सही है पढ़ेगा-लिखेगा तो कुछ ना कुछ तो बन जाएगा वरना तो साहब नौकरी तो आजकल है ही नहीं।

पांडे जी ने कहा : बेटा काम तो करना ही पड़ेगा।

अचानक से पर घंटी बजी। पांडे जी चिल्लाए। चीकू देख तो सही कौन आया।

बिना देखा दरवाजा मत खोलो जमाना खराब है चोर उचक्के घूम रहे हैं आजकल। कोई बोरी में बंद करके ले जाएगा

चीकू ने कहा: ऐसा कोई कर के तो दिखाए। पापा पीठ पर दो घूसें मारूंगा और उसका काम तमाम।

रामप्यारी के जाते ही पांडेय जी को फुरसत मिल गई। कुछ सोचने लगे।

चीकू समझ गया कि पापा जी अब कुछ लिखेंगे।

वह मोबाइल लेकर छज्जे पर चला गया।

तुम मुझ में रचती हो

तुम मुझ में

रचती हो

एक नया वितान

एक आसमान

एक विहंगम दृष्टि डालती हो

तो

लगने लगता है कि

मेरी शाम भी तुम

और

पहली भोर भी

मुझ में रचती हो
 नया रचनात्मक शिल्प और सौंदर्य की
 अनुपम कृति
 जिसके हर अक्स में
 केवल और केवल तुम्हारी सुरमई छवि के अलावा
 कुछ भी नहीं
 मैं भी देख लेता हूँ
 तुम्हें
 तुम्हारी आँखों को
 लगता है
 कि
 यहां ठहराव है
 एक उम्मीद भर का एहसास
 कलोल करता है
 मुझ में
 पूरी वेग के साथ
 तुम्हारे शब्द मुझ से सम्वाद ही नहीं करते
 बल्कि
 एक एहसास भरते हैं
 हमारी उम्मीदों में
 और प्राकृतिक माहौल में सुगंध का झरना झरने
 लगता है
 महसूस करना
 ये अनुभूतियों का शहर है
 जिसमें एक साथ कई एहसास अपनी यात्रा करते हैं
 सहयात्री बनना चाहोगी।

वैसे यह कहावत तो नहीं। पर घर की मालकिन के जाते ही हर किसी के चेहरे पर रौनक आ जाती है।

चीकू ने फ्रिज से संतरे लिए और पांडेय जी के पास प्लेट लेकर आ गया।

पांडेय जी कभी चीकू को और कभी उसके लिए संतरे को देखते रहें।

शाम को चीकू और दीदी पार्क से सैर को आए और समझिए घर में तूफान ले आये।

पांडेय जी अपने कमरे में तालियां पीटते रहें,हुआ

क्या जैसे सदी अपने यौवन पर चढ़ती है साहब,वैसे ही भिनभिनाते मच्छरों की आमद बढ़ जाती है।

इत्ती देर में पांडेय जी ने सोचा कि नए जमाने में युवा लोगों ने अपने जीवन का एक अंग बना लिया है फेसबुक।

अभी खोला ही था कि नए जमाने की पॉपुलर बुलबुल चौधरी ने एक पोस्ट लगाई जिसपर पांडेय जी का ध्यान गया।

वह पोस्ट क्या कई सारे स्क्रीन शॉट थे।

कई युवा लोग बुलबुल चौधरी के फैन टाइप के दुमछल्ले थे।

जो उनसे दोस्ती के मूड में थे।

उनके डायलॉग भी ऐसे होते हैं

हाय मेम

कैसी हो!

आप इतनी स्वीट हो कि क्या बताऊँ!

जब से आपको देखा है कि किसी दूसरी अप्सरा को देखने का मन भी नहीं करता।

आई कांट बिलीव कि कोई इतना सुंदर भी हो सकता है!

एक नए उम्र के दिलफेंक आशिक ने लिखा कि क्या मुझ से दोस्ती करेंगी!

मैं आपको इतना प्यार करूंगा कि आप सब भूल जाएगी।

बुलबुल चौधरी ने सोचा आखिर दुनिया में क्या एकमात्र अपूर्व सुंदरी वही है!

आखिर सुंदरता का पैमाना क्या है!

आज तक उसके पति ने कभी यह नहीं कहा!

तुम सा कोई नहीं,जानू!

ये फुकरे किसिम के आशिक काहे सर्द मौसम में ठंडी आह भरते हैं!

अबे सालों, निकम्पो रख लो, बुढ़ापे में खुद को तपाने में काम आएगी इस तरह की एनर्जी।

पांडेय जी पढ़ते हुए हँसने लगे कि देश के युवाओं को ये क्या हो रहा है!

अरे! बेटे पढ़ाई लिखाई कर लो, काम तो नाँकरी आएगी, फिर शादी भी हो जाएगी। कहां निशाना साधे बैठे हो, अभागे बेरोजगारों!...

तभी चीकू ने कहा कि पापा हमारा केबल नहीं आ रहा। कल केबल वाले अंकल को फोन करना। अब तो शाम हो गई।

ठीक है बेटे। कल करते है।

तभी देविका गजोधर ने फोन किया कि कैसे हो बोस!

आप तो याद ही नहीं करते!

पांडेय जी ने कहा कि जो दिल में रहते है, उन्हें याद नहीं किया जाता।

देविका गजोधर ने वीडियो कॉल कर फ्लाइंग किस्स दे डाला जिसे लपकने के लिए पांडेय जी फिसल गए। कुहनी छिली सो अलग।

पर मजाल क्या कि फ्लाइंग किस्स छोड़ दें। पक्के वाले प्रेमी है लल्लन टॉप की कसम।

रामखेलावन ने औरंगाबाद से वाट्सप कर डाला कि क्या हुआ पांडेय जी!

ये क्या उम्र है फिसलने की!

आप सुनते नहीं है न!

अगली बार आपको अपने गांव ले चलेंगे। वहां झुमकी का डांस दिखेंगे कि झंडु बाबा की जय बोलूं तो सब को भूल जाओगे। कहे देते है।

हम औरंगाबाद वाले है मधुबाला के प्रेम की कसम। चलोगे तो देविका को भी भूल जोंगे।

टिप्पी ने भी सुना तो जोर से मुस्करा दी औ? कहने लगीं कि गुरु चेले की जय हो।

मधुबाला आजकल रामखेलावन को बड़े मिस कर रही है, एक यही तो मौसम है जिसमें स्कूटी पर बैठने का मौसम था और ये महाराज कहाँ औरंगाबाद जा बैठे।

ये इश्क की बातें है साहब। कभी भी किसी भी उम्र में हो सकता है।

ये बात हो सही है। पांडेय जी आहे भरते हुए कहने लगे। कि देख लेंगे भैया तेरे गांव भी चल कर।

उधर टिप्पी से देविका ने भी कह दिया कि लिसन जान मुझे भी लेके चलना। मेरा मन भी है गांव को इन खूबसूरत आंखों से देखने का।

ओके ओके।

ले चलेंगे तुझे भी जान रामखेलावन के गांव में।

संपर्क

डॉ लालित्य ललित

संपादक, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)

नेहरू भवन 5, इंस्टिट्यूशनल एरिया, फेज-2

वसन्त कुंज, नई दिल्ली-110070



पहली बरखीश

रजनी मोरवाल

‘भिक्षाम देही-भिक्षाम देही’ बड़बड़ाता हुआ रतन पिछली गली से होता हुआ धोबी-घाट आ पहुँचा था। रामलीला में सीता हरण का सीन चल रहा था, रावण बना अरुण अपनी भारी आवाज़ में बिना रुके डायलॉग बोले जा रहा था और सीता को लक्ष्मण-रेखा पार करके बाहर आकर भिक्षा देने के लगातार उकसाए जा रहा था ‘माता...भिक्षाम देही, भिक्षाम देही माता।’ सीता मैया के रोल में अज्जु अपनी कुटिया के बाहर खींची गई लक्ष्मण रेखा के भीतर बैठा था। वह अपनी आवाज़ को महीन बनाकर अपने हिस्से के डायलॉग बोल रहा था, ‘मेरे पति मेरे लिए सोनमृग लेने गए हैं और मेरे देवर लक्ष्मण ने यह लक्ष्मण-रेखा खींची है। मैं वचनबद्ध हूँ इसे पार नहीं कर सकती और यदि कोई और इसे पार करने की कोशिश करेगा तो भस्म हो जाएगा।’

रतन बचपन से ही रामलीला देखते-देखते बड़ा हुआ है। अब तो उसको सभी पात्रों के डायलॉग मुंहजुबानी रट गए हैं, हाँ मगर अब वह रामलीला देखने नहीं जाता। ऐसा नहीं कि उसे अब रामलीला अच्छी नहीं लगती बल्कि घरवालों ने उसका यहाँ आना बंद करवा दिया था। एकबारगी उसके पैर ज़रा ठिठके किन्तु अगले ही पल वह जी कड़ा करके आगे बढ़ गया।

रेल्वे ग्राउंड के बीचोबीच से होकर चुपचाप गुज़र ही रहा था कि अचानक कोने पर बने कुएं में किसी ने थपाक से पत्थर फेंका था। वह घबराकर यहाँ-वहाँ देखने लगा था किन्तु उसे वहाँ कोई नज़र नहीं आया था। हो सकता है...स्याह अंधेरे में जहाँ हाथ को हाथ नहीं सूझता, ऐसे में किसी और को बूझ पाना उसे मुश्किल लगा। कोई था वहाँ जो उस पुराने कुएं के पीछे बनी टूटी-फूटी मुंढेर की आड़ लेकर छिप गया था ? बचपन से ऐसी मजाकें सहते-सहते उसे अब आदत-सी हो गई है।

वह आगे कदम बढ़ाने ही वाला था कि तभी पीछे से तालियाँ के साथ ज़ोर-ज़ोर से हँसने के भयंकर शोर ने उसके पाँव जकड़ लिए थे। वह ठिठक गया था। ये उसके मोहल्ले के वही आवारा लड़के थे जिनके कारण उसका घर से बाहर निकलना मुश्किल हो गया था...बचपन में तो स्कूल आते-जाते वक़्त ये आवारा लड़के कभी उसका बैग खींचकर भाग जाते थे तो कभी उसके चारों ओर गोल घेरा बनाकर तालियाँ पीट-पीटकर सस्ते फिल्मी गाने गुनगुनाने लगते थे- ‘सज़ रही गली मेरी अम्मा सुनहरी गोटे में, सुनहरी गोटे में रुपहरी गोटे में, ओए अम्मा...ओए अम्मा’ करते रतन गुस्से से तिलमिलाकर रह जाता था। उसके कानों में जैसे अब भी वही पुरानी फ़िकरेबाजी और फब्तियाँ गूँजने लगी थीं। घबराहट के मारे रतन की साँसें तेज़-तेज़ चलने लगी थीं। उसने हथेलियों से अपने कानों को ढँक लिया मानो हँसी-ठिठोली का बढ़ता हुआ शौरगुल उसे चौतरफ़ा घेरकर उसके कानों को चीर ही डालेगा। मन तो कर रहा था कि पत्थर मारकर वह इन सबका मुँह तोड़ दे परन्तु बचपन से उसे यही सिखाया गया था कि कभी किसी से उलझो मत और कोई चिढ़ाए तो वहाँ से हट जाओ। ऐसे मौकों पर अधिकतर रतन बिना किसी से उलझे अपनी नज़रें नीची किए वहाँ से चुपचाप चला जाता था। जब मुकाबले में हार निश्चित हो तो युद्ध में उतरना ही क्यों? वह कायर तो हरगिज़ नहीं था बस उसका मन ही मुलायम था और इसी बात का फायदा उसके अधिकतर दोस्त उठाते थे।

रामलीला खत्म हो चुकी थी शायद। लोगों का हुज़ूम चला आ रहा था। उसने अपने कदम जल्दी-जल्दी आगे बढ़ा लिए...पीछे से आ रहे लोगों की बातचीत के स्वर उसका पीछा कर रहे थे। ऐसा लग रहा था सभी

को सीता-हरण के दृश्य ने द्रवित कर दिया था। कोई कह रहा था 'लालच बुरी बला है, देखो सोने के मृग रूपी लालच ने सीता को लंका तक पहुंचा दिया,' तो कोई कह रहा था 'राम के द्वारा रावण की मुक्ति इसी प्रकार लिखी थी, सीता को तो मात्र उसका मुक्ति मार्ग बनना मिचौनी....कैसा-कैसा तो जी हो उठता है रतन का, तन का रोम-रोम खिल उठता है तो मन बाग-बाग हो जाता है। अज्जु का पात्र उसे बेहद रोमांचित करता है, यानिकी सीता मैया का पात्र और अज्जु तो उसमें मानो जान ही फूँक देता था। दुबला-पतला अज्जु लजाकर अपने संवादों पर कुछ इस अदा से लिपसिंक करता है कि देखने वाले उसे पलभर को उसे औरत ही समझ बैठते हैं-

भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाए। श्रवन सुभग भूषण छबि छाए।।
बिकट भृकुटि कच घूघरवारो। नव सरोज लोचन रतनारो।।

इस पूरी रामलीला में रतन को सिर्फ पुष्पवाटिका वाला सीन ही पसंद आता है। खासकर जब मंच पर राम-सिया की पहली-पहल मुलाकात की आँख-

चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला।।
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं।।
उर मनि माल कंबु कल गीवा। काम कलभ कर भुज बलसीवा।।
सुमन समेत बाम कर दोना। सावँर कुअँर सखी सुठि लोना।।

बचपन में तो अज्जु के साथ-साथ इन पदों पर रतन भी लजाने लगता था। इन पदों पर वह खूब आनंदित होता था तो कभी-कभी खुशी से सराबोर हो तालियाँ बजाने लगता था....उसे यूँ लगता था मानों वह सीता हो और मंच पर राम बना सुरेंद्र सचमुच का राम हो। रतन को सुरेंद्र के चौड़े सीने पर डोलती सूत की जनेऊ भी बहुत सुहाती थी। रामलीला खत्म होने के पश्चात भी सुरेंद्र का आकर्षण उसे देर तक सम्मोहित करता रहता था। वह भावविभोर हो उठता था। न जाने क्यों इन मौके पर माँ उसके कान उमेटकर लगभग घसीटते हुए उसे घर खींच लाती थी। धीरे-धीरे उसका रामलीला में जाना ही बंद करवा दिया गया था...रामलीला क्या ? उसका तो स्कूल जाना भी कब का छूट चुका था। बापू तो उसे बीड़ी लेने के लिए भी दुकान पर भेजने से कतराते थे। बापू तो जाने कब से यूँ भी उससे दूर-

दूर ही रहते थे। इस घर में बस एक बड़की ही थी जो उसे बहुत प्रेम करती थी पर वह भी अपनी सहेलियों को देखकर बदल जाया करती थी। जैसे ही उसकी सहेलियाँ घर आतीं वह रतन को घर के भीतर छिपा देती थी... बस एक अम्मा ही है जो उसका दर्द समझती है। कभी-कभी तो उसे अपनी ज़िन्दगी दोज़ख नज़र आती है। दोस्त-रिश्तेदार और बापू सब उसके बेगाने हो चुके थे।

छुटपन में उसे अपनी उम्र के बच्चों के साथ खेलने नहीं दिया जाता था। बड़की ने बताया था एक बार कि 'तू न लड़का है न लड़की! तुझे कौन अपने साथ खिलाएगा बता?' किन्तु अम्मा कहती है 'तू मेरा लाड़ला बेटा है, दुनिया चाहे कुछ भी बोले तू किसी की परवाह मत करना।' बचपन में माँ की यही बातें रतन को भुलावे में रखती थीं पर अब तो पूरे अठारह का हो गया है इस बरस। अब वह सब समझता है कि वाकई वह न लड़का है न लड़की...वह तो होकर रह गया है इनके बीच का। और इसी के डर से माँ उसे हर वक़्त अपने सीने से चिपकाए रखती है। वह खूब समझता है। हर वक़्त एक अनजाने खौफ़ के साए में जीते-जीते रतन दुबला गया था। उसका बदन नाजुक और हाथ-पाँव पतले हो रहे थे।

रात को माँ अपने से सटाकर सुलाती थी। माँ के ओढ़ने की ओट में सोते रतन को बेईतेहाँ सुकून मिलता था। वह अक्सर माँ के हाथ का सिरहाना बनाकर ही सोया करता था। उसे सिर्फ़ और सिर्फ़ रातें ही अच्छी लगती हैं...काली स्याह रातें, जिसमें उसे अपने बदन को किसी से छिपाना नहीं पड़ता। देर रात तक वह माँ के साथ वह ढेर सारी बातें करता है तो कभी उलहाना देता तो कभी शिकवे-शिकायतें भी। दिन तो यूँ भी वह किसी कैदी की तरह गुजारता था...दुनिया की नज़रों से छिपकर एकाकी अपने कमरे में। कभी-कभी तो उसे लगता है जैसे वह अपने वजूद से भी छिपता फिरता है...एक मर्तबा तो अचानक खुद को ही आईने में देखकर उसकी चीख निकल गई थी। वह इतना डर गया था कि घर से भागकर गाँव के बाहर मंदिर में जा छिपा था। भगवान से शिकायत कर-करके कितना फूट-फूटकर रोया था उस दिन रतन। मुँह अंधेरे माँ पकड़कर लाई थी उसे। जब किसी पर बस नहीं चलता तो वह माँ को ही कोसने

लगता है 'क्यों पैदा किया तुमने मुझे बताओ ? इस आधी-अधूरी ज़िंदगी का क्या करूँ अब ?

माँ के लिए भी उसका शरीर एक चुनौती बनता जा रहा था। उसकी बेडौल और विकृत होती छातियों को माँ लाख यत्न करके छिपा भी लेती थी किन्तु उसके हाव-भाव का क्या करती ? अब तो पानी की बुंदकियों-सी उगती दाढ़ी ने उसके गालों को ढँक लिया था। मूँछों के स्थान पर भी एक भूरी लकीर-सी खिंच आई थी...अजीब विरोधाभासी लक्षणों से जूझ रहा था रतन का शरीर। बिचारी माँ उसके तन को तो किसी तरह छिपा भी लेती थी किन्तु उसके मन का क्या करती ? उसका मन तो चंचल हुआ जा रहा था। रतन सिनेमा के गाने सुनकर नाचने लगता था तो कभी फिल्मी नायिकाओं की मानिंद शर्माता-लजाता। कई बार तो उसका मन करता कि वह माँ और बड़की जैसे ही कपड़े पहने...औरतों की ही तरह सजे-सँवरे, पर माँ उसे अक्सर डपट देती थी। बड़की की शादी में तो उसने माँ से नज़र बचाकर लहंगा-चूनर पहन भी लिए थे और औरतों के बीच घूँघट निकालकर खूब नाचा था किन्तु उसके बाद बापू की जो मार पड़ी थी कि कई दिन तक देह से पिटाई के निशान नहीं सूखे थे। बापू की जीवन भर की तलखी उस रोज़ उनकी छड़ी में उतर आई थी। वह लाख गिड़गिड़ाया था पर बापू पर तो जैसे पीपल वाले भूत का साया चढ़ गया था, उनके दाँत पीसते मुख पर दरिंदगी का बिज्र हो आई थी। उन्हें ज़रा भी दया नहीं आई थी अपने खून पर।

रतन की वजह से सब रिश्तेदारों के समक्ष बापू की बड़ी बदनामी हुई थी। बड़की के ब्याह में शामिल होने दूर-दूर से तमाम रिश्तेदार आए हुए थे। सारा घर लोगों से भरा हुआ था किन्तु फिर भी ज़मीन पर दर्द से बिलखते रतन को बापू की मार से छुड़ाने की कोशिश किसी ने भी नहीं की थी। उस दिन...माँ ने भी नहीं बचाया रोते हुए रतन को। उसकी आँखों की कातरता माँ का हृदय भी नहीं पिघला पाई थी। एक कोने में बैठी माँ जैसे उस समय में ही जज़ब होकर रह गई थी, वह अपनी ही कोख को कोस रही थी। रतन ने अपने-आप को बहुत अकेला पाया था उस दिन। एक माँ का आसरा था उस घर में सो भी टूटता हुआ प्रतीत हुआ था...जब कोई साथ न दे तो खुद का ही आसरा बचता है।

अचानक रतन में एक अजीब-सा आत्मविश्वास जागा था। पिटती देह में एक सकारात्मक ऊर्जा संचारित हुई थी जिसमें स्वाभिमान था, अपने गुर्रर को बचाने की एक अंतिम चाह थी...वह बापू के हाथ से छड़ी खींचकर सरपट भाग छूटा था, वहाँ से दूर किसी अनजान मंजिल की तलाश में जहाँ उसे कोई नहीं जानता हो, जहाँ वह किसी को जानता न हो।

बिना कुछ सोचे-समझे रतन एक ऐसी मंजिल की तलाश में निकल चुका था जिसकी राह अनजानी थी। अपने गंतव्य की तलाश में वह सीधा स्टेशन जा पहुंचा था। जितनी जल्दी हो वह कहीं दूर निकल जाना चाहता था। वह जानता था बापू उसे खोजें या न खोजें, पर माँ किसी भी तरह उसे खोज ही लेंगी और इस बार वह कमजोर नहीं पड़ना चाहता था। कुली से पूछने पर पता चला था कि शाम के पाँच बजे अरावली-एक्सप्रेस आती है किन्तु वह जाती कहाँ तक है ? इस प्रश्न का उत्तर फिलहाल रतन जानना भी नहीं चाहता था। उसकी जेब में मात्र दस रुपए थे, और सुबह से भूखी अंतड़ियाँ की अनंत कुनमुनाहटें जिसे फिलवक्त शांत करने के बारे वह सोच भी नहीं सकता था। उसने अकेले कभी यात्रा नहीं की थी। अकेले तो क्या उसे तो कहने भर को एक दफ़ा ट्रेन में बैठने का मौका मिला था। वह सिर्फ़ पाँच बरस का था जब दादी की अस्थिरता विसर्जित करने वह हरिद्वार गया था किन्तु तब तो पूरा परिवार उसके साथ था।

बिना टिकिट यात्रा का यह पहला अनुभव था पर उसके मन में कोई भय नहीं था...उसके आगे कुआँ और पीछे खाई थी तो आगे ही बढ़ना उचित लगा था उसे। वह तैरना तो नहीं जानता था पर नियति में यदि कुएं में गिरना बदा था तो उसने वही मंजूर कर लिया था। कुएं के पानी की सतह तो वह जांच नहीं सकता था परंतु एक उम्मीद थी कि वह हाथ-पैर मारकर अपनी जान बचाने की कोशिश तो कर ही सकता है कम-अज-कम...मगर पीछे एक गहरी खाई थी जिसमें से उसकी लहलुहान आत्मा बेहिस होकर निकली थी। वह वापिस तो कदापि लौटना नहीं चाहता था सो वह ट्रेन के शौचालय के भीतर छिप गया था। अब तक रतन ये नहीं बूझ पाया था कि एस्केपिस्ट हो जाने से समस्या टल नहीं जाती...वह

शतुरमुर्ग की मानिंद रेत में अपनी गर्दन धँसाए आँधी के गुज़रने का इंतज़ार कर रहा था। किन्तु आँधी थी कि जिसने रतन की जानिब अपनी रफ़्तार ज़रा भी कम नहीं की थी बल्कि यह आँधी तो और भी अधिक तीव्र गति से उसकी ओर बढ़ने लगी थी। वह नहीं जानता था कि वक्रत की ये आँधी उसे कहाँ ले जाएगी। वह तो बेसबब सूखे पत्ते-सा अपनी डाल से छिटककर हवा की रें में बस उड़ा चला जा रहा था। उसने अपने-आप से कहा 'होई-सोई राम रची राखा' और दम साधे उस कोच से टी.टी.ई. के गुज़रने का इंतज़ार करने लगा था। जबकि वह जानता था कि शौचालय में ज़्यादा देर टिकना नामुमकिन है। किसी भी पेसेंजर के आने का खतरा वहाँ मुसलसल बना ही रहता किन्तु वह बाहर भी तो नहीं निकल सकता था। इसी कसमकश में यात्रा के शुरुआती कुछ घंटे उसने वहीं गुज़ार दिये थे। टी.टी.ई. के गुज़रते ही उसने चैन की साँस ली थी।

किसी तरह छिपते-छिपाते रतन मुंबई पहुँच तो गया था पर इतने बड़े शहर में खाली जेब लेकर रहने-खाने का ठिकाना ढूँढ़ना नामुमकिन था। भूखे-प्यासे रतन ने पहली बार फुटपाथ पर पनाह ली थी। आधी रात उसकी करवट बदलने में ही गुज़री थी। उसने सपने में भी ऐसे दिनों की कल्पना नहीं की थी। वह अपने गाँव और अपनी माँ के बारे में सोचकर व्यथित हो रहा था...नींद उससे कोसों दूर थी कि तभी कुछ पियक्कड़ों ने उसपर हमला बोल दिया था। वह कुछ समझ पाता इससे पहले ही उन लोगों ने रतन को अपने कब्जे में ले लिया था। वह मुसीबत में फंस चुका था। उन आदमियों ने रतन की पिटाई की थी और जबरन उसके साथ बलात्कार भी किया था। पहली ही रात उसे घर छोड़कर यूँ भाग आने की कीमत चुकानी पड़ी थी। वह लगभग बेहोश हो चुका था। आसमान में लटका चाँद उसे बेहद स्याह लगा था। वह बेतहाशा रो रहा था 'माँ तुम कहाँ हो ? माँ देखो तुम्हारे रतन के साथ क्या हो गया ?' किन्तु रतन के दुखों को पाटने के लिए न तो वहाँ माँ थीं न ही उसके बिखरे आस्तित्व को समेटने के लिए माँ का मजबूत कलेजा... रतन फुटपाथ पर सिर पटक-पटककर रोता रहा था और अंततः दर्द में लिपटा सो गया था। सूरज की पहली किरण के साथ ही पुलिस

इंस्पेक्टर की हकाल सुनकर उसने अपनी सूजी हुई आँखें खोली थी। रतन के जीवन की सबसे काली रात थी जिसकी भयावह सुबह का सामना करना तो अभी बाकी था।

न जाने कहाँ से हिजड़ों को खबर लग गई कि रतन उनकी जमात का है... उसने लाख हाथ-पाँव जोड़े किन्तु वे उसे धोखे से पकड़कर ले आए और एक अंधेरी कोठरी में बंद कर दिया गया। भूखे-प्यासे रतन ने उस कोठरी में कई-कई बार बलात्कार झेला। उसका जी अपने-आपसे ही घिन्नाने लगा था। वह आसमान से गिरकर खजूर पर लटक गया था। हिजड़ा मंडली ऐसे किसी शख्स को देखते ही ताक में लग जाती है कि इसे कैसे अपने पास खींचा जाए और अपनी मंडली में शामिल कर लिया जाए। रतन के साथ भी ऐसा ही हुआ। गजाला उसे रोज़ खाना देने आती थी। उसे रतन से कुछ हमदर्दी सी हो आई थी। वह उसे समझाती कि 'परिस्थितियों से समझौता करना ही उसकी मुश्किलें कम कर सकता है वरना एक न एक दिन वह मारा भी जा सकता है।' रतन तो मुंबई पहुँचकर अपने लिए एक नई दुनिया ईज़ाद करना चाहता था। वह इज़्जत कमाना चाहता था। नौकरी करना चाहता था और अपने लिए एक वजूद तलाशना चाहता था किन्तु किस्मत ने उसे एक ऐसे नर्क-कुंड में धकेल दिया था जहाँ से निकालना अब मुश्किल था।

गजाला तो मर्द थी पहले। ज्ञानेन्द्र नाम था उसका। एक भरपूर मर्द, बस आदतें ही खराब थी उसकी और ऐसे ही एक दिन उसे किसी ने नशे के साथ बेहोशी की दवा पिला दी थी और नतीजतन वह इस जगह पहुँच गई थी। एक दफ़ा गजाला ने ही रतन को अपनी कहानी सुनाई थी 'मैं कमाटीपुरा में पैदा हुई, मैं झूठ क्यों बोलूँ ? मेरी माँ धंधा करती थी...शायद वो लो-क्वालिटी की औरत थी ? किसे पता ? मुझे बचपन से ही अपना खयाल खुद ही रखना पड़ता था....क्या पता कि मुझमें से बदबू आती थी ? इसलिए हमेशा मुझे बुरे लोग ही मिलते थे। पहले मेरे टीचर ने मेरा बलात्कार किया। जब मैं दस साल की हुई तो माँ के एक कस्टमर ने मेरा फिर से बलात्कार किया।' जब बरबस ऐसा होने लगा तो उसने यह भयावह फ़ैसला कर लिया था, 'तब

मैं इतनी बड़ी तो हो गई थी कि अपने फ़ैसले खुद ले सकूँ, तो मैंने तय किया कि अगर मेरे साथ यही होना है तो कम-अज-कम इससे मुझे कुछ मुनाफा तो कमाना चाहिए जिससे मेरा पेट भरने लायक इन्कम तो हो जाए। ' इसके बाद उसने खिड़की के बाहर इशारा करते हुए कहा, 'इसलिए मैं उस वाले थिएटर के बाहर जाकर खड़ी होने लग गई और मर्दी का इंतजार करती थी....वहीं से दरअसल असली कहानी शुरू होती है। जब थिएटर के बाहर खड़ी होने लगी, तब हिजड़ों की मंडली ने भांप लिया। हिजड़े मेरे पास आए और उन्होंने कहा 'तुम आदमियों के साथ सोते ही हो तो हमारे साथ क्यों नहीं आ जाते, हम तुम्हें औरत बना देंगे। मैं बीस साल की थी जब मेरी जिंदगी के चालीस दिन मुझसे छीन लिए गए। चालीस दिनों तक एक दाई गर्म तेल की पट्टियाँ मेरे घाव पर लगाती रही। '

रतन ने उससे पूछा था- 'कितना दर्द हुआ था ?' तो उसने कंधे उचका कर जवाब दिया- 'बच गई तो बच गई, मर गई तो मर गई। सब भगवान की दया पर है, हमें मजबूत होना पड़ता है, बहादुर होना पड़ता है। असल में मेरे साथ जो हुआ वो दहला देने वाला था। वह बताती है- 'एक सुबह, दाई आई और उसने मुर्गे के बोलने का इंतजार किया, चार बार मुर्गा कुकड़ू...कू बोला। इसके बाद दाई की छुरी चली, खचाक....मैं तो बेहोश हो गई थी। बाद में मुझ पर गरम तेल छिड़का गया। दाई ने मेरे शरीर को तब तक खून से रंग दिया था फिर उसने मेरे अंदर पत्थर घुसा दिया। '

रतन ने पूछा-किसलिए? गज़ाला रो पड़ी 'माहवारी...जैसे माहवारी होती है न बस वही। एक पत्थर मेरे अंदर घुसा दिया और मुझे बताया गया कि मैं औरत बन गई, सम्पूर्ण औरत !' रतन ने जानना चाहा 'गुप्तांग का क्या हुआ ? गज़ाला उसके सिर पर हाथ फ़ैरती हुई बोली- 'कुछ हिजड़े अपने कटे हुए गुप्तांग अपने पास रख लेते हैं लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। वह शर्मति हुए बोली- 'मैंने कहा कि इसे ले जाकर अजायबघर में रख दो जहाँ सब लोग इसे देखकर तारीफ करें या फिर फेंक दो ताकि इस चीज़ को कोई देख न सके। ' और उसके बाद वह हा...हा...हा...करके हँस पड़ी किन्तु

रतन ने देखा कि हँसते-हँसते उसकी आँखें बरबस बरसने लगी थी।

अगले दिन रमैया आई थी उसे पुचकारने 'बिल्कुल तेरी ही तरह मैं यहाँ आई थी बल्कि मुझे अभी तक ठीक से याद है कि एक सुबह मेरे अंडकोष सुतली से बांध दिए गए थे और जब वक्त आया तो दाई ने अपने सहायक को पीछे हटने को कहा। उसने हाथ ऊपर उठाया और ज़ोर से चिल्लाई 'जय बहुचरा माता !' फिर जब मैंने ऊपर उसकी तरफ नज़र उठाई तो जानते हो, मैंने क्या देखा? एक आसमानी रंग का सुंदर-सा कनकौवा दिखाई दिया, जो अपनी डोर से कटकर हवा में गोते लगा रहा था। क्या तुम विश्वास करोगे ? कि जैसे ही दाई ने छुरी चलाई, उस पतंग ने अपनी दुम हिलाते हुए मुझसे कहा...गुड बॉय एंड गुड लक!'

रतन डरके मारे थर-थर काँपने लगा था। रमैया ने उसका हाथ अपने हाथों में लेकर कहा-'ऐसा करने के ठीक पहले उन लोगों ने मेरे मुँह में एक पुड़िया उड़ेली थी। उस वक़्त तो मैं अन्जान थी किन्तु अब जान चुकी हूँ कि वह अफ़ीम की पुड़िया थी। हो सकता है अफ़ीम की वजह से मुझे आसमान में वह पतंग दिखाई दे रही थी....या क्या जाने? अर्धबेहोशी में वह पतंग मेरे भविष्य की ओर इशारा करने का कोई ख़ाब भी हो सकता है।' रमैया की हिचकियाँ बंध आई थीं- 'इसके ठीक बाद मैंने देखा मेहमानों की कतार लगी हुई थी। वे सभी मेरे चारों तरफ नाच रहे थे, गा रहे थे और एक-दूसरे को मुबारकबाद दे रहे थे। वे सब अपने साथ तोहफे भी लेकर आए थे। हमारी मंडली की सरदार मेरी बलैयां ले रही थी, शुभकामनों दे रही थी। उसने कहा-'रमैया तुम बहादुर हो!' और इस तरह मैं इनके जैसी हो गई। फिर इस तरह मैं रहीम खान से रमैया बना दी गई थी....और ऐसे मेरी मिर्ची काट दी गई थी।

रतन समझ चुका था कि वह इन लोगों के चंगुल में बुरी तरह फंस चुका है। अगले दिन नमाज़ पढ़ती रमैया पर उसने नया पैतरा फेंका था- 'मैं तो तुम्हें रहीम भाई ही कहूँगा।' रमैया बिना कुछ बोले मुस्कराकर सजदे में झुक गई थी। रतन फिर गिड़गिड़ाया था- 'तुम तो नमाज़ी हो! मेरी मदद करो भाई! तुम्हें तुम्हारे परवरदिगार

का वास्ता। मुझे यहाँ से निकाल दो प्लीज़।’ रमैया ने अपनी दरी समेटी और रतन के पास ही दीवान पर तस्वीह लेकर इबादत में बैठ गई थी। रतन ने फिर एक चांस लिया था ‘रहीम भाई मुझे बचा लो! तुम्हें तुम्हारे ईमान की कसम! अल्लाह तुम्हें जन्नत बखसेगा! इस बार रहीम का चेहरा सख्त हो चुका था। वह रतन के करीब सरक आया और उसके कंधे लगभग झिंझोड़ते हुए चीखा- ‘किस धर्म का वास्ता दे रहा है तू? ये धंधे हर धर्म में होते हैं...हिन्दू, ईसाई, सिक्ख और मुसलमान कोई अछूता नहीं है। हिजड़े या तो पैदा होते हैं जैसे तू...या फिर बनाए जाते हैं जैसे मैं। मैं इबादत करता हूँ तो क्या खुदा ने मुझे बख्श दिया? यद्यपि कुरान में समलैंगिक सम्बंधों को हराम कहा गया है परन्तु जन्नत-उल-फिरदोस और जन्नत-उल-खुल्द की आयतों में, जन्नत में हूरों के साथ ‘गिलमाओं’ का उल्लेख मिलता है और गिलमा जानते हो कौन होते हैं?’ रमैया की आँखें गुस्से से लाल हो उठी थीं। उसने बोलना जारी रखा ‘एक तरफ कुरान लड़कों के साथ दुराचार को बुरा कहती है और दूसरी तरफ लोगों को जन्नत में सुन्दर लड़के मिलने का प्रलोभन देती है। कुरान में तो इनका ऐसा वर्णन है- ‘उनके चारों तरफ लड़के घूम रहे होंगे, वह ऐसे सुन्दर हैं, जैसे छुपे हुए मोती हों।’ वहाँ ऐसे किशोर फिर रहे होंगे जिनकी आयु सदा एक सी रहेगी, इन लड़कों की हकीकत जानते हो तुम? कुरान की ही इस आयत से बूझो! जो कहती है कि, ‘ऐसे पुरुष जो औरतों के लिए अशक्त हों तो ऐसे पुरुषों को नपुंसक या हिजड़ा कहते हैं।’ वह बुरी तरह बिफरते हुए बोली- ‘और सुन मैं रमैया हूँ खबरदार जो मुझे रहीम भाई कहा!’ रमैया की आवाज़ की शुष्कता रतन को भीतर तक हिला गई थी। रतन की आखिरी उम्मीद भी टूट चुकी थी।

ज़ार-ज़ार रोते रतन से रमैया ज्यादा देर रूठी न रह सकी थी। सहानुभूति जताते हुए वह रतन को समझाने लगी थी- ‘देख रतन मैं तो मर्द थी फिर भी इस समाज और हिजड़ों से बच न सकी किन्तु तू तो तन और मन दोनों से हिजड़ा है। तू चाहे तो भी इस जीवन से तेरा छुटकारा मुश्किल है। हिजड़ा संप्रदाय में तुझे हर धर्म व महजब के हिजड़े मिल जोंगे। मुस्लिम शासक भी कई-कई औरतें रखते थे और हरम की रक्षा के लिए हिजड़े

भी, जिन्हें ‘खोजा सरा’ कहा जाता था। आज भी ये प्रथा अफगानिस्तान, पाकिस्तान और अरब में मौजूद है जिसे ‘बच्चा बाजी’ कहा जाता है। इसी तरह राजाओं के यहाँ भी हिजड़ा बनाने कि प्रथा थी जिनको ‘मुखन्निस’ कहते हैं। राजा जब युद्ध के लिए जाते थे तो रनवासों में ऐसे पुरुषों को छोड़कर जाते थे जिनका पुरुषांग कटा हुआ हो ताकि वह स्त्री जैसे दिखें और जब वह हरम में काम करें तो वहाँ की औरतों से कोई शारीरिक सम्बन्ध नहीं बना सकें। परन्तु इसके ठीक उलट इनके मालिक इनसे समलैंगिक संबंध बनाते थे।’ रतन पर कुछ असर होता न देख रमैया अब धमकियाँ देने पर उतारू थी.... ‘देख हमारे यहाँ कोई भेदभाव नहीं होता। यहाँ सब बराबर हैं। बाहर की दुनिया में तू जी नहीं पाएगा और हिजड़े तुझे अब मरने नहीं देंगे। तेरी भलाई इसी में है कि तू इनकी बात खुशी-खुशी मान जाए वरना जबर्दस्ती यहाँ का अंतिम हथियार है।’

रतन ने आने वाले कई दिन अपनी हठ में यूँ ही भूखे-प्यासे में काट दिए। वह उस दिन को कोसने लगा जब बापू के दर से वह किसीको बिना बताए घर से भागा था, ‘काश मैं घर की चारदीवारी पार न करता! पर क्या पता घर से भी ये लोग मुझे एक न एक दिन ढूँढ ही निकालते?’ उसे एहसास हो चुका था कि बापू जीवन भर उससे नफरत नहीं बल्कि बेइतेहा प्यार करते रहे थे। दरअसल वे उसे खोना नहीं चाहते थे इसीलिए वे उसके घर से बाहर निकलने पर क्रोधित हुआ करते थे...रतन फूट-फूटकर रोने लगा था।

रमैया ने रतन के बालों को सहलाया। वह उसे समझाने लगी- ‘यहाँ रहने वाली ज्यादातर शख्सियतों के दुख एक ही तरीके के हैं...हिजड़ा कोई बीमारी नहीं है, ये हम सब जानते हैं पर समाज को कौन समझाए?’ पैदा होने तक तो हम सब आदम-जात ही होते हैं और कुछेक बरस तक सब कुछ सामान्य ही चलता है। बस बाद में शारीरिक गुप्तांगों का विकास उस तरह नहीं होता जैसा मर्दों का जबकि स्तनों का विकास न तो पुरुषों की तरह होता है न महिलाओं की तरह....वे बेडौल हो जाते हैं, जैसे तेरे....और फिर रतन की कमीज़ में झाँककर रमैया हँस पड़ी। दरअसल हम बदनसीब त्रिशंकु होकर इस

समाज से परे अधर में झूलते रहते हैंहम न मर्द रहते हैं न औरत, किन्तु मानसिक तौर पर हम खुद को औरत ही मानते हैं। हिजड़े औरतों की तरह खूबसूरत बनना चाहते हैं....दरअसल हम पूरी औरत बनना चाहते इसीलिए हमारे अंदर वैसे ही भाव आते हैं जैसे महिलाओं के भीतर। इसीलिए हम पुरुषों से आकर्षित होते हैं, क्या पता एक रोज़ तुझे भी कोई प्यार करने वाला मिल जाए? सुन...हमारे यहाँ भी कई प्रेमी जोड़े हैं जिनमें से कई तो शादी-शुदा भी हैं....यहाँ प्रेम महज शारीरिक संबंधों के लिए नहीं बल्कि अपने साझा दुखों के कारण होता है रे!’ रमैया उसकी ठोड़ी पकड़कर अपनी तरफ घुमाते हुए बोली....वैसे वह अपने-आपको सांत्वना दे रही थी क्योंकि रतन तो कुछ सोचने समझने की स्थिति में था ही कहाँ, वह तो अर्धविक्षिप्त-सा किसी और ही लोक में विचरण कर रहा था।

अगले दिन रतन देर तक सोता रहा था। रमैया उसे उठाने आई थी। दो-चार बार आवाजें देने के बाद भी जब रतन ने करवट नहीं बदली थी तो रमैया नमाज़ पढ़ने जा बैठी थी। रमजान के पूरे महीने भर वह रोज़े रखती है और इस दौरान वह अपनी पाँच दफ़े की नमाज़ में कोताही नहीं बरतती। सजदे में झुकी रमैया के पीछे अधखुले दरवाज़े से, उस शाम रतन को उम्मीद की एक किरण दिखाई दी थी। उसने फेफ़ड़ों में जोर से हवा भरी और वह टूटे-फूटे जीने से होता हुआ सरपट भाग छूटा था....कहाँ ? ये तो उसे खुद भी अंदेशा न था। वह तो बस किसी भी तरह उस नर्क से बाहर निकलना चाहता था।

शाम के धुंधलके में उसने देखा था कि मुंबई कितना हसीन लगता है। सामने जगमगाता सी-लैंक ब्रिज और उसपर तेज़ रफ़्तार से दौड़ती हजारों छोटी-बड़ी कारें। रतन ने सिर झटक दिया- ‘काश कहीं से उसके जीवन में भी इतनी ही रौशनी उतर आए...कुछ देर को ही सही वह भी इन जलती-बुझती लाइटों से अपने कभी न पूरे होने वाले ख्वाबों की मीनारें रौशन कर लेता। उसकी रगों में भी तो युवा लहू है फिर क्यों उसके भीतर के ज्वार पर हिजड़ेपन का लावा जम गया था?’ वह देर तक सिसकता रहा था फिर धीरे-धीरे फुटपाथ पर अंधेरे

का साम्राज्य काबिज होने लगा था...औंधे पड़े-पड़े उसकी आँखें भी मुँदने लगी थी। रतन उस स्थिति में कितनी देर तक पड़ा रहा पता नहीं? पेट की भूखी अँतड़ियों ने उसे जब होश दिलाया तब सूरज ठीक उसके सिर पर दहक रहा था। उसके मस्तिष्क में हजारों प्रश्न कुलबुला रहे थे ‘साले इस पेट के आगे इंसान के जिस्म में इज्जत, आबरू, ईमान, वजूद और मन की कोई कीमत नहीं?’ पसीने से लस्त-पस्त उस देह में सिर्फ उस वक्रत एक पेट ही ऐसा अंग था जिसका कि पूरे जिस्म पर एकाधिकार था। बापू कहा करते थे ‘इज्जत चली जाती है तो देह में सिर्फ भूख ही भूख रह जाती है।’ और वह एकाएक उठ-बैठा। ‘उसकी भी इज्जत गई पर पेट की भूख न गई, यक्क थू...’ रतन ने घृणा से थूक दिया। वह दिमाग पर जोर डालने लगा कि किस रास्ते पर बढ़ा जाए? एक रास्ता घर का था जहाँ से वह भाग आया था और दूसरा रास्ता वह था जिसपर चलकर पिछले कुछ दिनों में उसने धोखे ही धोखे खाए थे। उसे अपने शरीर से सख्त नफ़रत होने लगी थी।

गाँव में होता तो माँ से कहता कि उसे मुल्लानी मिट्टी से घिस-घिसकर नहलाए। माँ उसे फिर याद हो आई। उसे अपनी निरीहता पर रोना आने लगा। सिर ऊपर उठाया तो देखा आसमान में ढेरों चीलें मंडरा रही थीं। शायद वे चीलें रतन को अपना शिकार मान रही थीं। वे उसके सिर को धुरी बनाकर चारों तरफ तेज़ी से गोल-गोल चक्कर लगाने लगी थीं। यहाँ तक की उनके पंखों की फड़फड़ाहट से रतन के सिर के बाल दुलककर माथे पर छितर आए थे... ‘उफ़्फ़ क्या वह किसी मृत शरीर का सा भान दे रहा है?’ रतन को अपने ऊपर घिन्न हो आई। वह फुर्ती से उठा और अपने बदन पर लिपटी मिट्टी झाड़कर लंबी-लंबी साँसे लेने लगा जैसे वह अपने आपको यह एहसास दिलाने की कोशिश कर रहा था कि अभी तक वह जिंदा है। उसकी आत्मा अभी भी मरी नहीं है बेशक कि उसका देह शिथिल और मन पस्त हो चुका है फिर भी जीने की चाह उसमें बाकी थी।

और फिर रतन चल पड़ा एक अनाम और अनिश्चित राह पर। उसने जगह-जगह नौकरी मांगी

किन्तु निराशा ही हाथ लगी। उसने फिर भी हार नहीं मानी। वह फुटपाथ पर रातें गुजारता और दिन में ज़िंदगी से जद्दोजहद करता रहा। उसके कपड़े जगह-जगह से फट चुके थे और मन था कि छलनी होकर सिसकता रहा था। वह घर लौटना चाहता था...माँ के सीने से चिपककर रोना चाहता था। उसकी ओढ़नी की नर्म छाँव में सुकून से जी भरकर सोना चाहता था। वह पिता के क्रोध के बदले उनसे पिटकर भी उनके गले लगना चाहता था क्योंकि वह जान चुका था कि उसके पिता उससे अटूट प्रेम करते हैं। गाँव का घर फिर उस शाम रतन को खूब याद आया।

वह सागर किनारे गया और नहाने के लिए घुटने तक लहरों में उतर गया। देर तक लहरों उसके शरीर पर आवाजाही करती रही थीं। वह अवचेतन स्थिति में शिथिल पड़ा रहा था। तन का मैल बहा सो बहा उसका मन भी बेहद हल्का-हल्का हो आया था। तब तक उसके कपड़े सूख चुके थे और बदन पर फड़फड़ाने लगे थे। तभी उसने कलेजे के करीब भूखे पेट की दुलत्तियाँ महसूस की। वह कुछ सोच पाता, तभी दस का एक करारा नोट उसकी आँखों के सामने मंडराया था। उसने ऊपर देखा तो एक महिला अपने बच्चे के हाथों उसे दस का नोट दिलवाना चाह रही थी। बची-खुची इज्जत को सख्ती से परे धकेलकर रतन ने उस दस के नोट को ऐसे कसकर पकड़ा जैसे वह माँ की परोसी करारी रोटी को पकड़ता था। उसने लानत से भरकर एक गाली इस दुनिया को दे डाली जो मेहनत के बदले में उसे अब तक दुत्कारती रही थी और बिना मेहनत उसपर दया की भीख बरसा रही थी।

रतन कई दिन तक यूँ ही भीख मांगकर पैसे इकट्ठा करता रहा था। 'मलाड' के 'अक्सा बीच' पर उसने अपना डेरा जमा लिया था। रात गुजारने के लिए धर्मशाला में जगह मांगते वक्रत मालिक की घूरती नज़रें उसकी छातियों तक उतरकर अटक गई थी। उसे लगा था वह सड़क पर थूका हुआ कोई मवाद हो जिसपर अनगिनत मक्खियाँ भिनभिना रही हों। छी... ! कितनी घिन्न आई थी उसे अपने-आप पर।

माँ कहा करती थी- 'जब कहीं ठौर न हो तब

भगवान का दर ही मनुष्य का आखिरी सहारा बनता है, उसके पट सबके लिए खुले रहते हैं।' रतन उसी इलाके के शिव मंदिर में ठिया ढूँढने जा पहुंचा। मंदिर के बाहर हजारों की भीड़ जुटी थी। उस दिन महाशिवरात्रि का मेला भरा था। सारे लोग दर्शन के बाद अपने परिवार के साथ खा-पी रहे थे। बच्चों को खिलौने दिला रहे थे। मंदिर के बाहर गरीबों को पेट भर खाना खिलाया जा रहा था। दान में कपड़े, कंबल, दवाइयों का वितरण हो रहा था। ऐसा लग रहा था इस मुल्क में अमीरों के मन में गरीबों के लिए दया भावना कूट-कूटकर भरी है। किन्तु रतन सब समझता है दरअसल ये सभी अपनी-अपनी काली कमाई से बचने के एवज में भगवान को खुश करने की फिराक में लगे रहते हैं। धन-दौलत के जरिए यहाँ दुआँ खरीदी जाती हैं। हर तरफ झूठ और फरेब का पाखंड बिखरा पड़ा हुआ है। समाज में अपनी धाक जमाने के लिए गरीबों में सहानुभूति बाँटी जाती है फिर अगले दिन यही खबरें अखबारों में रंगीन फोटो के साथ धनिकों के झूठे प्रेम का इज़हार करती नज़र आती हैं। खैर उसे क्या ? वह तो रात ढलते ही मंदिर प्रांगण में खूँटी तान कर सो गया था। गहरी नींद में, रतन माँ के पहलू से जा लगा था, माँ की ओढ़नी से लिपटा वह नींद में ही कुछ बड़बड़ा रहा था। नर्म मल-मल की ओढ़नी में से जानी-पहचानी गंध महक रही थी।

माँ हर समय घर-गृहस्थी के कामों में खटती रहती है। उसने सपने में ही प्रण ले लिया था कि वह माँ के काम में हाथ बटाएगा। माँ हरदम कहा कहती थी- 'वह माँ का राजा बेटा है।' तो वह अब माँ का राजा बेटा बनकर ही बताएगा... 'माँ मुझे पानी पिला दोँ! माँ! ओ माँ....!' रतन करवट-दर-करवट माँ को ढूँढने लगा था। तभी एक लात उसकी पीठ पर आकर पड़ी थी 'ए कमीने! उठ यहाँ से...अपने बाप की जागीर समझकर पसरा पड़ा है यहाँ? चल भाग यहाँ से।' चार हाथों ने उसे जबरन खींच कर चबूतरे से नीचे ला पटका। अँधेरे में रतन सिर्फ यही देख पाया कि वे जनेऊ धारी दो भगवा लोग थे। शायद ये वही लोग थे जिनके दम पर भगवान की पूजा-पाठ हुआ करती है, जिनके भोग से भगवान का पेट भरता है और जिनके प्रसाद से भगवान के भक्त वैतरणी पार करते हैं। 'यह कैसा न्याय है तेरा भगवान?

जो इस दुनिया में मुझे कहीं ठौर नहीं? यहाँ तक की तेरे दर पर भी नहीं? माँ तुम झूठ बोलती हो...तुम्हारे भगवान ने भी देखो, मुझे ठुकरा दिया है।' रतन फफक पड़ा किन्तु उसकी आह सुनने के लिए वहाँ कोई नहीं था। उसे अब सिर्फ अपनी माँ का ही आसरा था। वह घर लौटने वाली ट्रेन में जा बैठा था...। वह घर की चौखट लांघने की बहुत सजा पा चुका था। अब तो वह बस जल्द से जल्द घर पहुँचना चाहता था।

वह सीधा मंदिर पर जा पहुँचा था। अंधेरे में मँजीरे, भजन और हारमोनियम की धुन में डूबी कीर्तन मंडली में से किसी ने उसे पहचाना नहीं था। वह कोने में सिकुड़कर बैठ गया था और अंधेरा ढलने का इंतज़ार करने लगा था। मन था कि उसके वश में ही नहीं था, वह तो जल्द से जल्द अपनी माँ से, बापू से और उस चारदीवारी से मिलना चाहता था। वह उस घर में ठिठके अपने बचपन से गले मिलकर ज़ार-ज़ार रोना चाहता था। उसे इंतज़ार था तो बस अपने घर लौट जाने का। वह माँ को भौचक होते देखना चाहता था, बापू की डांट खाना चाहता था और अपनी बहन के संग हरे-भरे खेतों में जी भर दौड़ना चाहता था। 'पर बहन का ब्याह हो गया होगा तो, क्या जाने वह मायके ही हो?' वह उठा और घर की ओर चल पड़ा।

माँ उसे देहरी पर ही खड़ी दिखी। ऐसा लग रहा था वह दिन में कई-कई बार इस तरह देहरी पर आकार झाँक जाती होंगी...क्या माँ उसीके लिए वहाँ आई थी? क्या माँ को उसका इंतज़ार था? माँ...ओ...माँ! वह माँ की तरफ बाहें फैलाकर दौड़ पड़ा। माँ उसे देखकर अपनी सुध-बुध खो चुकी थी। वह रतन की बाहों में बेहोश होकर झूल गई थी। रतन को दहाड़े मारते देख अब तक बापू भी बाहर आ चुके थे। रतन माँ के मुँह पर झुका हुआ रो रहा था तभी बापू की चिर-परिचित आवाज़ गूँजी- 'चले जाओ यहाँ से ! इससे पहले कि तुम्हारी माँ होश में आए, तुम निकल जाओ यहाँ से। समाज में हमको बेइज़्जत करके तुम्हारा मन नहीं भरा?' बापू की आँखें अंगारे बरसा रही थी। वह तो बापू के बुढ़ापे की लाठी बनाना चाहता था। बापू की सशक्त भुजाओं से लिपटकर अपने तमाम दुख उड़ेलना चाहता था। परन्तु

वही बापू उसे वहाँ से चले जाने को कह रहा था। रतन एक बार फिर बेघर हो चुका था। माँ को घर के भीतर लेकर उसके मुँह पर दरवाजा सदा के लिए बंद किया जा चुका था किन्तु रतन जानता था कि माँ होश में आते ही उसके बारे में जरूर जानना चाहेगी, वह बापू से लड़ जाएगी उसके लिए।

अगले दिन रतन बापू की गैरहाज़िरी में घर गया था। माँ इस बार उसे देखकर बेहोश नहीं हुई थी, हाँ मगर उसकी आँखों में एक भय था...समाज का भय दिखा था उसे माँ की आँखों में। वह लगातार बड़बड़ाए जा रही थी- 'तू चला जा रतन! तू लौट जा अपनी उसी दुनिया में जो तेरी अपनी है, हमारी इस दुनिया में तेरे लिए कोई स्थान नहीं, तू न घर का है न घाट का, तू तो हिजड़ा है मेरे बच्चे! तेरी जगह यहाँ नहीं...जा चला जा। तू सोच ले कि तेरी माँ तेरे लिए मर गई, माँ ने रतन को परे धकेलते हुए कहा था।'

रतन एक बार फिर से बेघर हो चुका था। वह टूट चुका था। उसे यकीन था कि चाहे सारी दुनिया उसे तन्हा छोड़ दे पर माँ उसे अपने गले से लगा ही लेगी। वह फिर माँ के आँचल से लिपटकर अपने गम भुला देगा किन्तु इस निष्ठुर संसार के साथ-साथ माँ ने भी उसे ठुकरा दिया था। वह एक अंजान सफ़र की ओर बढ़ चला था कि तभी उसे अपने घर के बाहर जानी-पहचानी तालियों की आवाज़ सुनाई दी थी...ठीक ऐसी ही आवाज़ें उसने अपनी जमात की हथेलियों पर बजती सुनी थी। वह तेज़ रफ़्तार से बढ़ने लगा था...वह बढ़ता ही गया और धीरे-धीरे वह उनमें शामिल हो गया था।

अगले दिन वह उन लोगों के साथ अपने ही घर की चौखट पर खड़ा ताली बजा रहा था। घर में उसकी बहन की जचगी हुई थी। उस दिन अपने भतीजे की बलैया लेता हुआ वह खूबझूम-झूमकर नाचा था। घूँघट में उसे कोई पहचान नहीं पाया था। उस दिन माँ ने उसे चाँदी की पाज़ेब दी थी और बापू ने नोटों की भारी गड्डी। रतन रोते-रोते अचानक ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा था। यह उसके हिजड़ा जीवन की पहली बख़्शीश थी।



में यहीं रहूँगा

गिरीश पंकज

यही कोई सात-आठ साल पहले की बात है। सुरेश अपने पुराने मित्र रामप्रकाश से मिलने गया था। तब रामप्रकाश ने लगभग चहकते हुए बताया था, “यार, मेरा बेटा अमरीका चला गया है। वहाँ किसी एसडीसी-कंपनी में असिस्टेंट के रूप में काम कर रहा है। सॉफ्टवेयर इंजीनियर है। अच्छा पैकेज भी मिला है।” सुरेश ने रामप्रकाश को बधाई दी थी। आज अचानक सुरेश को रामप्रकाश की याद आई। रामप्रकाश चित्रकार भी है। सुरेश के बेटे अभिज्ञान को भी चित्रकारी का शौक है इसलिए सुरेश अपने बेटे को रामप्रकाश से मिलवाने उसके घर ले गया था।

रामप्रकाश को देख कर सुरेश सहसा उसे पहचान न सका था। बड़ी हुई खिचड़ी दाढ़ी। आँखों पर मोटा-सा चश्मा। कपड़े भी अस्त-व्यस्त। सुरेश ने रामप्रकाश से ही पूछा, ‘रामप्रकाश जी यही रहते हैं न?’

रामप्रकाश ने हँसते हुए कहा, “क्या मजाक करते हो सुरेश, तुमने मुझे नहीं पहचाना? क्या सात साल में मैं इतना बूढ़ा हो गया हूँ?”

‘अरे, माफ करना यार, तुम ही हो? लेकिन यह क्या हुलिया बना रखा है?’

‘क्या करूँ यार। बेटे बाहर रहते हैं। पत्नी बीमार रहती है। उसकी सेवा करूँ कि अपने पर ध्यान दूँ? बस, बैरागी-सा हुलिया बन गया है।’

इतना बोल कर रामप्रकाश ने उदास ठहाका लगाया। सुरेश कुछ देर तक चुप रहा। रामप्रकाश भी खामोश। अभिज्ञान पुराने अखबार पर नज़रें गड़ाए बैठा रहा। भीतर के कमरे से रामप्रकाश की पत्नी के खाँसने की आवाज साफ सुनाई दे रही थी।

‘क्या भाभी की तबीयत ज्यादा खराब है?’

‘नहीं, ऐसे ही। सर्दी-खाँसी लगी रहती है। घुटने में भी दर्द बना रहता है। चल रहा है इलाज।’

‘तुम लोग अकेले रहते हो। देखभाल के लिए कोई तो चाहिए? तुम्हारा दूसरा लड़का क्या बैंगलोर में ही सेटल हो गया है? उसे ही अपने पास बुला लेते!’

सुरेश की बात सुन कर रामप्रकाश हँसते हुए बोला, ‘अरे, अभी तो मैं जवान हूँ। पैंसठ साल का यंग। पत्नी भी चौंसठ की है। हाथ-पैर चल ही रहे हैं। अपना हाथ जगन्नाथ। पेंशन मिल ही रही है। माना कि कमरतोड़ महँगाई है, फिर भी रूखी-सूखी खा कर ज़िंदा रह सकते हैं। दोनों बेटे जहाँ रहें, खुश रहें। अपना क्या है? इतनी कटी है, और कट जाएगी।’

सुरेश बोला, ‘तुम तो शुरू से संतोषी जीव रहे हो। खैर, बच्चों के फोन तो आते रहते होंगे?’

‘हाँ-हाँ, आते रहते हैं। प्रदीप का दो महीने पहले आया था। महीप का भी... तीन महीने पहले आया था। अब... आजकल मैं आता ही होगा।’ इतना बोल कर रामप्रकाश नज़रें चुराने लगा।

‘दो-तीन महीने पहले फोन आया था?’ सुरेश ने चौंकते हुए कहा, ‘और तुम बोल रहे हो कि फोन आते रहते हैं? अरे, ‘आते रहते हैं’ का मतलब तो यह हुआ कि हर दूसरे-तीसरे दिन या हर हफ्ते आते हैं। दो और तीन महीने पहले आया था? हद है, भाई। इट इज़ टू मच। यह ठीक बात नहीं।’

‘अरे, ऐसा कुछ नहीं है, यार। तुम तो जानते हो कि कई बार नेटवर्क नहीं मिलता। और विदेश से लाइन मिलना भी कठिन हो जाता है।’

‘यार रामप्रकाश, तुम तो ऐसी बात कर रहे हो, जैसे हम लोग बीस साल पहले के युग में रह रहे हैं।’ सुरेश ने व्यंग्यात्मक मुसकान के साथ कहा, ‘किसी

और को उल्लू बनाओ। सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते कि लड़के फोन ही नहीं करते?’

‘नहीं-नहीं, ऐसा मैं नहीं कह सकता। फोन तो करते हैं।’ इतना बोलते ही रामप्रकाश की आँखें भर आईं। वह बोला, ‘‘यह मत समझ लेना कि मैं रो रहा हूँ। आजकल अजीब-सी बीमारी हो गई है। थोड़ी देर बात करते ही आँखें भर आती हैं। ...लोग समझते हैं कि मैं रो रहा हूँ। डॉक्टर मिश्र से इलाज करवा रहा हूँ। वे बता रहे थे कि आँखों में कोई इन्फेक्शन हो गया है।’

रामप्रकाश की आँखों में आँसू देखकर सुरेश को लगा कि अब विषय बदलना चाहिए। उसने कहा, ‘अपने बेटे को लाया हूँ तुम्हारे पास। तुम तो अच्छे चित्रकार हो। इसकी भी ड्राइंग में रुचि है। इसे कुछ टिप्स दो।’

‘क्यों नहीं, क्यों नहीं? मैं हर घड़ी तैयार हूँ। क्या कर रहो हो बेटे?’

‘इंजीनियरिंग की पढ़ाई।’

‘अति सुंदर, आजकल तो कंपस सेलेक्शन भी होने लगे हैं। तुमको भी कोई कंपनी पहले से ही बुक कर लेगी। कहाँ जाने की सोच रहे हो बरखुरदार?’

‘मैं कहीं नहीं जाऊँगा, यहीं रहूँगा।’ अभिज्ञान ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

‘क्यों? क्या यहीं सड़ने का इरादा है?’ रामप्रकाश ने कंधे पर हाथ रखते हुए का, ‘बेटे, बाहर निकलो। तभी अच्छा पैकेज मिलेगा।’

‘मुझे पैकेज नहीं, माता-पिता चाहिए अंकल।’ अभिज्ञान बोल पड़ा, ‘इनको देखने वाला कोई न हो, और मैं पैकेज ले कर दूर कहीं मगन रहूँ, इट इज़ नॉट पॉसिबिल। मैं तो यहीं रहूँगा, ऐंड आई एम कॉन्फिडेंट कि कोई अच्छी-सी नौकरी मुझे यहीं मिल जाएगी। अपना इलाका भी अब पिछड़ा नहीं रहा। अंकल, मैंने यह भी सोच लिया है कि जो कुछ करूँगा, अपने देश में ही करूँगा। अब तो जिसे देखो, वही देश छोड़ कर भाग रहा है।’

‘वाह, क्या बात है? कमाल हो गया।’ रामप्रकाश के चेहरे पर खुशी की लहरें उठने लगीं। वे बोले, ‘ये होते हैं लायक बेटे। एक हमारे हैं, जो अपने बाप से इतनी दूर हैं कि देखने को तरस जाते हैं।’ इतना बोल

कर रामप्रकाशजी ने बात संभाली, ‘नहीं-नहीं, वैसे ठीक ही हैं। साल-दो साल में एकाध दिन के लिए तो आ ही जाते हैं। सबका अपना-अपना भाग्य है। जीवन में सारी खुशियाँ एक साथ नहीं मिल सकतीं कि बेटे को अच्छी नौकरी भी मिल जाए, और वो अपनी आँखों के सामने भी रहे। हमें इतना स्वार्थी भी नहीं होना कि अपने सुख के लिए बच्चों को कैरियर दाँव पर लगा दें।’

‘मगर बेटों का भी तो कोई फ़र्ज़ बनता है कि वे अपने माता-पिता का ख्याल रखें? यह क्या बात हुई कि घर छोड़ कर गए, तो पलट कर देख ही नहीं रहे हैं? यह तो स्वार्थ है भाई।’ सुरेश ने कुछ तल्खी के साथ कहा।

‘मेरे बेटे खुदगर्ज नहीं, मजबूर हैं।’

‘आजकल तो अधिकतर बेटे मजबूर ही हैं।’ सुरेश ने भड़कते हुए कहा, ‘मजबूर नहीं, पक्के खुदगर्ज हैं। अपने में मगन। वे इस लेबल पर जा कर सोचते ही नहीं कि आज वे जो कुछ भी बन सके हैं, जितना भी पैकेज़ ले रहे हैं, उसके पीछे माता-पिता का ही तो योगदान है। उन्हें पैकेज के लायक बनाने में उन्होंने अपना खून-पसीना बहाया है। अपने सुखों में कटौती की है। अपनी नींदें जाया की हैं। अपना पेट काटा है। अपने खर्चे कम किए हैं। अपने सपनों की हत्यों कीं। महत्वाकांक्षाओं का गला घोंटा। अगर माता-पिता ध्यान नहीं देते, उसे बेहतर खुराक ही न देते, उसकी सुख-सुविधाओं का ध्यान न रखते, तो बच्चे का दिमाग तेज कैसे होता? वह अपना विकास कैसे करता?’

‘बात तो ठीक कहते हो, मगर इसे समझते कितने बच्चे हैं?’

‘लेकिन मैं समझता हूँ।’ अभिज्ञान बीच में ही बोल पड़ा, ‘मैं जानता हूँ कि मुझे खड़ा करने में मेरे माता-पिता का कितना बड़ा रोल है। इसलिए मैं पैकेज के पीछे नहीं भागूँगा। मैं यहीं रहूँगा। नौकरी करूँगा और घर बसाऊँगा। पत्नी भी ऐसी देखूँगा, जो हाउस वाइफ रहे तो बेहतर। और अगर वैसी न मिली, नौकरी वाली ही मिली, तो भी मैं उससे साफ-साफ कह दूँगा कि उसे मेरे माँ-बाप का ख्याल रखना ही होगा।’

‘यार सुरेश, तुम्हारा बेटा तो कमाल का है। क्या सोच है इसकी? यह आज के लड़कों से कुछ हट कर है।’

‘ऐसा इसलिए है कि यह खाली-पीली मटरगशतीवाला लड़का नहीं है। यह कलाकार है। पेंटिंग बनाता है। कविताएं भी करता है। अच्छा साहित्य पढ़ता है। ‘नेट’ में भी यह हिंदी और अंगरेज़ी साहित्य सर्च करता रहता है। कबीर, तुलसी, रहीम, स्वामी विवेकानंद आदि न जाने कितने लोगों को पढ़ता रहता है। इन सब बातों से भी तो आदमी का व्यक्तित्व बनता है न। इसे मैंने और इसकी माँ ने शुरू से इसी तरह के संस्कार दिए। फिर इसने अनेक ऐसे माता-पिताओं का हथ्र भी देखा है, जो बेचारे अकेले रह रहे हैं और...।’ इतना बोल कर सुरेश रुके और फिर बोले, ‘खैर, चलता हूँ। अपना ख्याल रखो। पहले से कुछ कमजोर हो गए हो। सेहत का ध्यान रखो। वरना दिक्कत हो जाएगी।’

समय बीतता गया। पाँच साल कब निकल गए, पता ही नहीं चला। इस बीच अभिज्ञान स्थानीय कॉलेज में लेक्चरर हो गया। वैसे तो किसी विदेशी कंपनी ने अभिज्ञान का पर्संटेज देख कर उसका कैम्पस सेलेक्शन भी कर लिया था। मगर उसने साफ मना कर दिया। उसके मित्रों ने उसके इस पागलपन के लिए खूब लताड़ा मगर अभिज्ञान हँसता रहा। एक ने कहा, ‘तुम जैसे लोग यहीं सड़ने के लिए ही बने हो।’ दूसरा बोला, ‘इसीलिए समझदार लोग कहते हैं कि ज्यादा आदर्शवादी और राष्ट्रवादी किस्म का लिटरेचर नहीं पढ़ना चाहिए।’

अभिज्ञान के दोस्त उस पर हँसते रहे, मजाक उड़ाते रहे मगर अभिज्ञान उनकी बातों को मुस्कराते हुए सुनता रहा।

एक दिन अभिज्ञान ने अपने पिताजी से कहा, ‘वो आपके मित्र हैं न रामप्रकाश, उनके पास चलना है। मैंने कुछ चित्र बनाए हैं, उन्हें दिखाना चाहता हूँ।’

‘अरे, तुमने अच्छा याद दिला दिया। सालों हो गए उनसे मिले हुए। उसका फोन नंबर भी मेरे पास नहीं है। बात ही नहीं हुई। चलो, चलते हैं। पता नहीं यही है या बेटों के पास चला गया है। खैर, चल कर देखते हैं।’

अभिज्ञान ने पिता को कार में बिठाया और दोनों

रामप्रकाश के घर पहुँच गए। कॉल बेल बजाई तो कुछ देर बाद एक बेहद बूढ़े व्यक्ति ने दरवाजा खोला। अभिज्ञान तो पहचान नहीं सका, मगर सुरेश ने पहचान लिया।

‘रामप्रकाश? ठीक तो हो न?’

‘हाँ, ठीक ही हूँ। बस, तबीयत खराब रहने लगी है।’

‘और भाभी जी?’

‘वो तो पिछले साल साथ छोड़ कर हमेशा-हमेशा के लिए चली गई। अब निपट अकेला हूँ।’

‘अरे, मुझे याद तो किया होता? मेरे पास ही आ जाते। तुम्हारा नंबर भी मैं नहीं ले पाया था। तुम अपने बेटों के पास क्यों नहीं चले जाते?’

‘किन बेटों के पास चला जाऊँ? उन बेटों के पास, जिन्होंने दो साल से मुझे फोन ही नहीं किया। झाँकने तक नहीं आए कि मर रहा हूँ कि जी रहा हूँ?’

‘क्या बात कर रहे हो रामप्रकाश? तुम्हारे बेटे तुम्हें भूल जाँगे, यह तो मैंने सोचा ही नहीं था?’

‘क्या करोगे भाई। अपनी-अपनी किस्मत है। खैर, बोलो, कैसे आना हुआ? अरे हाँ, ये तुम्हारा लड़का। क्या कर रहा है? कहाँ है?’

‘यहीं है। मेरे साथ ही। टीडीएस कॉलेज में पढ़ाने लगा है। इसने कुछ चित्र बनाए हैं। कहने लगा कि अंकल को दिखाना चाहता हूँ। देखो यार, कुछ बताओ।’

‘रामप्रकाश ने अपना चश्मा ठीक किया। गौर से एक-एक चित्र को देखा। फिर मुसकराते हुए बोले, ‘एक्सीलेंट। लड़के में रेखाओं की समझ है। कलर कॉम्बिनेशन भी परफेक्ट है। कहीं-कहीं थोड़ी हड़बड़ी दीखती है, मगर वो कोई खास बात नहीं। इसी तरह बनाते रहना। लगे रहो बेटे।’

‘थैंक्स अंकल। मैं फिर आऊँगा आपके पास।’

‘हाँ, ज़रूर आना। तुम भी आया करो, सुरेश। सालों बाद आते हो। अगली बार कम-से-कम मेरी अंत्येष्टि के पहले तो आ जाना, यार।’

इतना बोल कर रामप्रकाश खोखली-सी हँसी हँस पड़े और खाँसने लगे। खाँसी रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। सुरेश मित्र की पीठ सहलाने लगा, तो उसने

महसूस किया कि रामप्रकाश की शरीर तप रहा है। अभिज्ञान एक गिलास में पानी ले आया था। दो घूंट पीने के बाद रामप्रकाश सामान्य हुए। फिर बोले, 'एक सेवक आता है लेकिन रेगुलर नहीं है। मनमानी करता है। सोचता हूँ, वृद्धाश्रम ही चला जाऊँ। वहाँ देखभाल करने वाले लोग तो होंगे। सबके साथ रहूँगा, तो मन भी बहल जाएगा। फिर सोचता हूँ कि वृद्धाश्रम जाने का मतलब है अपने बेटों की नालायकी को जगजाहिर करना। इसलिए मर जाऊँगा, वृद्धाश्रम तो नहीं ही जाऊँगा।'

सुरेश ने भारी मन के साथ कहा, 'तुम भले ही यहाँ रहो, मगर प्रसन्न रहो। स्वस्थ रहो। लो, मेरा फोन नंबर और जब भी मन करे, फोन कर देना, चला आऊँगा।'

'मेरा नंबर भी रख लीजिए अंकल।' अभिज्ञान बोला, 'मुझे भी बुलोगे तो आ जाऊँगा।'

रामप्रकाश मुसकरा पड़े। बोले कुछ नहीं। कुछ देर तक सब खामोश रहे। फिर सुरेश ने कहा, 'चलता हूँ। .. फोन करना।'

रामप्रकाश ने सिर हिलाया। अभिज्ञान अपने पिता के साथ लौट गया।

कुछ महीने बाद अखबार के एक पृष्ठ पर छपी एक खबर ने सुरेश को विचलित कर दिया। खबर थी, 'गंगानगर में रहने वाले रामप्रकाश नामक लगभग पचहत्तर वर्षीय बुजुर्ग अपने मकान में मृत पाए गए। उनका नौकर सुबह जब उनके घर पहुँचा तो रामप्रकाश के शरीर में कोई हलचल न देख कर उसने पुलिस को सूचित किया। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट के अनुसार वे पिछले कई दिनों से बीमार चल रहे थे। वे घर पर अकेले ही रहते थे। उनके दो बेटे हैं। लेकिन उनसे किसी का कोई संपर्क नहीं हो पाया। अंततः मोहल्ले वालों ने मिलजुल कर उनका अंतिम संस्कार किया।'

खबर पढ़ कर सुरेश के आँसू बहने लगे। जब सामान्य हुए तो उन्होंने अभिज्ञान से कहा, 'अजीब किस्म के आदमी थे रामप्रकाश। कभी फोन भी नहीं किया। समय रहते अस्पताल ले जाते, तो शायद ठीक भी हो जाते। मैं तो उनके निर्मोही-नालायक बेटों के बारे में सोच रहा हूँ।'

अभिज्ञान चुप रहा। फिर धीरे से बोला, 'चले, अंकल के घर?'

'क्या करेंगे वहाँ जा कर? कौन मिलेगा?'

'ठीक बात है। बस, इसीलिए पिताजी, मैं बाहर नहीं जाना चाहता। बेटे बाहर रहते हैं और माता-पिता बेचारे बेमौत मर जाते हैं। आए दिन ऐसे किस्से सामने आते रहते हैं। मैं तो हमेशा यही रहूँगा। अपने देश में ही और आपके पास।'

सुरेश ने बेटे को गले लगा लिया और मुस्कराते हुए बोले, 'तू इस युग में श्रवणकुमार जैसा मन ले कर कहाँ से आ गया, बे?'

अभिज्ञान भी मुसकरा पड़ा और बोला, 'उसी श्रवणकुमार की कहानी का असर भी है पिताजी, जो बचपन में आपने पढ़वाई थी। आपने एक बार मुझे गीता प्रेस वाली पतली-सी किताब ला कर दी थी। उसमें और भी प्रेरक कहानियाँ थीं। उन्हें मैं भूल नहीं सका हूँ। आज जिसे देखो, घर से दूर भाग रहा है। माँ-बाप से कट रहा है। मैं उनके जैसा नहीं हो सकता। हम भले ही पिज्जा-बर्गर खा रहे हैं। जींस में हैं। अँगरेजी भी बोल रहे हैं, पर मुझे लगता है कि हमारा भारत 'वैल्यूज़ वाला देश है। ये वैल्यूज़ हमारे जीवन में भी तो दिखने चाहिए। अपना देश, अपनी भाषा, अपना कल्चर। इसे बचाए रखने की जरूरत है। आपके सामने डायलॉग मारना ठीक नहीं। चलता हूँ।'

'कल कहीं मत जाना। तुझे देखने लड़की वाले आ रहे हैं।'

'हाँ, वो तो पता ही है। खैर, कल तो वैसे भी घर पर रह कर लेपटॉप पर कुछ काम करना है। कॉलेज के 'एनुएल फंक्शन' का जिम्मा मुझको ही मिला है।'

'अरे हाँ भाई, मैं तो भूल ही गया था। अब तो तुम प्रोफेसर हो। ठीक है प्रोफेसर साहब। अभी तो जाओ। कर लो मस्ती। अब तुम्हारे मस्ती वाले दिन खत्म होने वाले हैं। अब तुम बंधुआ मजदूर होने वाले हो।'

अभिज्ञान ने बोला कुछ नहीं, बस, मुस्कराते हुए बाहर निकल गया।

सुरेश अपने स्वर्गवासी मित्र रामप्रकाश की यादों में खो गए।

Girishpankaj1@gmail.com



फॉस

प्रो. प्रभा पंत

ज़माने से कटी- सी वो एकाकी जीना सीख चुकी थी। अपने आप में खोई- सी..... औरों की उम्मीदों पर खरी उतरती हुई, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती चली जा रही थी। सभी की अपनी और हरदिल- अज़ीज़ थी, आज भी वो। उस पर सभी बेहद यकीन करते थे, लेकिन उसे ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य पर लेशमात्र भी विश्वास नहीं था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह स्वभावतः अविश्वासी थी... एक समय ऐसा भी था, वह हर किसी पर आँखें मूँदकर विश्वास कर लिया करती थी। छल, कपट, अविश्वास से अनजान अत्यंत सरल, सहज और मृदु स्वभाव की थी, प्रिया। लोगों से रिश्ता जोड़ना उसके बाएँ हाथ का खेल था। वह ऐसी संजीवनी थी, उससे दोस्ती करके लोगों को लगता था, जैसे उन्होंने कोई अनमोल वस्तु पा ली हो; क्योंकि वह उदासी और निराशा को फिर कभी उनके करीब फटकने नहीं देती थी। शनिवार को अक्सर हम दोनों एक-दूसरे के कमरे में चले जाया करते थे। रात में हम दोनों ने मिलकर खाना बनाया-खाया और खा-पीकर, देर रात तक हँसते-बतियाते सो गए।

आज सुबह से ही कुछ उन्मनी और उदास-सी लग रही थी, प्रिया। यूँ तो आज उजली-सी धूप खिली है; लेकिन फिर भी न जाने क्यों उसकी आँखों में बदरी-सी छाई है जो रह-रहकर बरस पड़ती है, जब-तब। इससे पहले मैंने उसे इस तरह उदास नहीं देखा था। मुझसे उसकी यह दशा देखी नहीं जा रही थी; किन्तु उसके अंतर्मुखी स्वभाव के कारण मैं उसकी आँखों में तैरते आँसुओं को अनदेखा करती रही। नहा-धोकर जब हम चाय पीने बैठे तो मैंने जैसे-तैसे साहस जुटाकर प्रिया से उसकी उदासी का कारण पूछ ही लिया।

टूटते हुए स्वर में वह बोली, 'वर्षों से मैं इस यकीन के साथ जी रही थी.... फॉस निकल चुकी है... पर भीतर-ही-भीतर वह इतने गहरे गढ़ी थी कि बाहर से कभी किसी को उसकी छाया तक नहीं दिखाई दी... कल रात तेरे छूते ही फिर से मुझे जिस तरह तीखे दर्द का अहसास हुआ..... तब उसके कारण को पहचान पाई।'

प्रिया की बात सुनकर अनायास मेरे मुँह से निकला, 'लेकिन, मैंने तो ऐसा कुछ भी नहीं कहा, जिससे तू आहत होती।'

'मैं जानती हूँ, तूने ऐसा कुछ भी नहीं कहा.... लेकिन, तू नहीं जानती, मुझे लड़कों के नाम से ही घृणा है; इसीलिए आज तक मैंने शादी भी नहीं की।'

प्रिया की बात सुनकर, मैं कल रात हुई बातों को सोचने लगी..... मुझे याद आया.... जब मैंने उत्साहित होकर उससे कहा था, 'प्रिया! मेरा जी चाहता है, तुझे अपनी देवरानी बनाकर हमेशा के लिए तुझसे रिश्ता जोड़ लूँ।' तब वह कुछ अनमनी-सी हो गई थी और उसने कहा था, 'मेरे सिर में दर्द हो रहा है। चल, अब सो जाते है।' उस समय मुझे लगा था, रात बहुत हो गई है..... शायद उसे नींद आ रही होगी... मैंने करवट बदली और सो गई।

वह प्रिया जिसे मैं विशाल हृदय और उन्मुक्त स्वभाव की हँसमुख लड़की समझ रही थी, आज अचानक वह मुझे रहस्यमयी लगने लगी थी। मेरा मन बेचैन हो उठा। जी चाह रहा था उसके जीवन की किताब के उस दर्द-भरे पन्ने को पढ़ूँ और उसे फाड़कर फेंक दूँ, जिससे फिर कभी प्रिया की आँखों में आँसू न आ सकें। मैंने साहस करके उससे कहा, 'प्रिया! बाँटने से खुशियाँ

बढ़ती हैं लेकिन जब हम किसी अपने के सामने अपना दर्द बयां कर देते हैं तो हमारा दर्द कुछ घट जाता है; इसलिए कह रही हूँ, यदि तुझे मुझ पर विश्वास हो तो तू मुझे अपना वह ज़ख्म दिखा सकती है जो अब तक भर नहीं पाया है.... क्या पता मेरे पास वह मरहम हो, जिससे वह भर सके। तेरे दिल का वह कोना जो अब तक कसक रहा है शायद, मैं उस फॉस को निकालकर फेंक सकूँ जो तुझे अब तक टीस दे रही है।’
.....

कुछ देर हम दोनों के बीच सन्नाटा-सा पसरा रहा.... फिर धीरे-धीरे एक-एककर वह अपने अतीत के पलटने लगी ‘नौकरी के सिलसिले में, मैं पहली बार अपने गाँव-घर से बाहर निकली थी। छल-कपट से बिल्कुल अनजानी.... सभी पर सहज ही विश्वास कर लिया करती थी। मेरी प्रथम नियुक्ति हल्द्वानी के निकटवर्ती एक प्राइमरी विद्यालय में हुई। मेरे सभी सहकर्मी मुझसे बहुत स्नेह करते थे। शायद इसलिए, क्योंकि अपने विद्यालय में मैं सबसे छोटी थी... सबका कहना मानती थी और सभी का आदर-सम्मान किया करती थी।

एक दिन की बात है- हम अपनी प्रधानाचार्य की बेटी के विवाह के अवसर पर उनके घर गए थे। उनकी बेटी के लिए बाज़ार से कुछ व्यक्तिगत सामान लाना था; बड़ी दीदी (हम सभी अपनी प्रधानाचार्या को बड़ी दीदी कहकर ही संबोधित किया करते थे) ने अपनी क़रीबी मित्र के बेटे मोहित से मेरा परिचय करवाया, और मुझे सामान लाने के लिए उसके साथ बाज़ार भेजा। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावशाली था। उसकी जिस प्रतिभा ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, वह थी उसकी सादगी और सेवाभाव। वह एक सफल व्यापारी होने के साथ कुशल ज्वैलरी डिज़ाइनर तथा पेंटर भी था। मुझे लगता था, वही व्यक्ति रचनाकार हो सकता है जो अन्य लोगों से अधिक संवेदनशील हो, और संवेदनशील व्यक्ति कभी किसी को आहत नहीं कर सकता।

उस रात पार्टी में देर हो जाने के कारण बड़ी दीदी ने कहा- ‘प्रिया, तुम अकेली मत जाओ, मोहित तुम्हें अपनी गाड़ी से छोड़ आएगा।’

मेरे चेहरे पर असमंजस के भाव देखकर वह बोली- ‘घबराओ नहीं, मैं तुम्हें अपने घर के सदस्य के साथ ही भेज रही हूँ।

रास्ते में मोहित ने मुझे अपने व्यापार एवं घर-परिवार के विषय में जानकारी दी, तथा मेरे परिवार के विषय में भी बहुत-सी बातें पूछीं। ... मुझे घर के दरवाज़े पर छोड़कर, जब वह चला गया तो मैंने चैन की साँस ली; क्योंकि मन-ही-मन मैं यह सोचकर भयभीत हो रही थी, कहीं वह मेरे पीछे-पीछे घर के भीतर ही न चला आए पर वैसा नहीं हुआ।

लगभग तीन-चार महीने बाद एक दिन उसका फोन आया। जब मैंने उसे पहचानने से इनकार कर दिया तो उसे बहुत बुरा लगा, और वह बोला- ‘मैं जब से आपसे मिला हूँ, तब से आज तक एक क्षण के लिए भी आपको नहीं भुला पाया, और आप हैं कि मुझे पहचान भी नहीं रही हैं।’

उस दिन के बाद अक्सर वक्त-बेवक्त उसके फोन आने लगे। वह अपनी बातों से मुझे हमेशा यह यक़ीन दिलाने की कोशिश किया करता था कि वह मुझसे बहुत प्यार करता है। धीरे-धीरे मुझे उसकी बातें सच लगने लगीं, किन्तु न जाने क्यों मैं उस पर विश्वास नहीं कर पा रही थी। यही कारण था, जब भी वह मेरे घर आने की बात करता तो मैं कोई-न-कोई बहाना बनाकर टाल दिया करती थी। समय बीतता रहा। सुना था, होनी बलवान होती है, उस दिन देख भी लिया।

एक बार की बात है... बड़ी दीदी की तबीयत बहुत ख़राब थी... स्कूल में मुआयना होने वाला था। दीदी ने फ़ोन पर मुझे विद्यालय से कुछ ज़रूरी कागज़ात लेकर घर आने का निर्देश दिया। फ़ाइल लेकर जब मैं उनके घर पहुँची तो सामने मोहित को देखकर चकित रह गई। मैं समझ नहीं पा रही थी, यह मोहित की चाल है अथवा वास्तव में दीदी ने मुझे आवश्यक कार्यवश बुलाया है। मुझे देखते ही मोहित का चेहरा खिल उठा। ऐसा नहीं कि मुझे उससे मिलकर खुशी नहीं हुई, लेकिन मेरी खुशी में अजीब-सी घबराहट भी शामिल थी। उस दिन स्कूल का काम करते-करते जब शाम हो गई तो

दीदी ने जिद करके मुझे रोक लिया और खाना खाए बिना नहीं आने दिया। खाना खाने के बाद उन्होंने मोहित से मुझे घर छोड़कर आने के लिए कहा।

घर के दरवाज़े पर पहुँचकर जब मोहित ने कार रोकी तो मैंने औपचारिकतावश कहा- 'चाय पीकर जाइयेगा।' मेरे कहते ही वह तुरन्त गाड़ी से उतरा और उसने गाड़ी लॉक कर दी।

हम दोनों ने चाय पी। उस बीच वह मेरी पसन्द-नापसन्द के बारे में पूछता रहा। पहले दिन जिस मोहित से मेरा परिचय हुआ था, आज वह मुझे उस दिन से बिल्कुल विपरीत लग रहा था। व्यवहार और वेशभूषा दोनों दृष्टि से वह मुझे फ़िल्मी खलनायक जैसा लग रहा था। प्रथम परिचय में उसके जिस रूप को मैंने देखा था, वह सच था अथवा जिस रूप को मैंने आज जाना, वह सत्य है; मैं इस उलझन से निकलने का प्रयत्न कर रही थी कि तभी उसकी आवाज़ सुनकर चौंक उठी। 'कल आऊँगा, अभी चलता हूँ।' कहता हुआ वह तीर की भाँति कमरे से बाहर चला गया।

वह कल फिर आएगा, इस तनाव के कारण मैं उस रात देर तक सो भी नहीं सकी। अनेक आशंकों मुझे भयभीत कर रहीं थीं ... फिर मैंने मन-ही-मन जब यह निश्चय किया, कल छुट्टी लेकर घर चली जाऊँगी। तब जाकर कहीं चैन की नींद आई।

रात में देर से सोने के कारण सुबह आँख तब खुली, जब दूधवाले ने दरवाज़ा खटखटाया। मैंने हड़बड़ाकर दरवाज़ा खोला। मुझे अस्तज-व्यस्त देखकर वह बोला, 'बहिनजी, लगता है- आपकी तबीयत ठीक नहीं है। अगर कोई दवा लानी हो तो लिखकर दे दीजिये, मैं ले आऊँगा।'

मैंने किसी तरह बहाना बनाकर उसे टाल दिया, जबकि वास्तविकता यह थी कि उस समय किसी पराए व्यक्ति के व्यवहार में अपने प्रति आत्मीयता देखकर मुझे लगा- जैसे इस शहर में मैं अकेली नहीं हूँ। घड़ी पर नज़र पड़ते ही मैं स्कूल जाने की तैयारी में जुट गई ...।

मैं नाश्ता करने बैठी ही थी कि तभी दरवाज़े की

घण्टी घनघना उठी। मुझे लगा अखबार आया होगा, लेकिन जैसे ही मैंने दरवाज़ा खोला ... अपने सामने मोहित को देखकर मेरे चेहरे का रंग ही उड़ गया।

'क्या हुआ प्रिया जी, क्या आपको मेरा आना अच्छा नहीं लगा?' उसने पूछा।

'नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। दरअस्त, मुझे स्कूल के लिए देर हो रही है।' मैंने हकलाते हुए कहा।

मेरी बात सुनकर वह ज़ोर से हँस पड़ा और बोला- 'अच्छा तो आपको सण्डे के दिन भी स्कूल जाना पड़ता है।'

'क्या आज सण्डे है?' मैंने चौंकते हुए पूछा था; क्योंकि मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था, वह सच बोल रहा है।

'जी हाँ।' कहते हुए उसने अपनी कलाई मेरी ओर बढ़ाते हुए घड़ी में तारीख़ दिखाई। अपनी बदहवासी पर मैं कुछ झेंप-सी गई।

'अब तो अन्दर आने दीजिए या आज यहीं पर खड़े-खड़े बात करनी होगी।'

'सॉरी' कहकर मुझे दरवाज़े से हटना पड़ा। उसका इस तरह अनौपचारिकता से भीतर आकर बैठ जाना, मुझे ज़रा भी अच्छा नहीं लगा।

शायद, वह मेरे चेहरे की ओर ही घूर रहा था, तभी तो उसने मेरे चेहरे पर आते-जाते भावों को पढ़ लिया और बोला- 'आप कुछ परेशान-सी लग रही हैं, आपकी तबियत तो ठीक है। कहीं बुखार तो नहीं?' कहते हुए वह मेरे करीब चला आया और उसने मेरा हाथ पकड़ लिया।

मैं उठ खड़ी हुई और झटककर हाथ छुड़ाते हुए मैंने तीखे स्वर में कहा- 'मैं बिल्कुल ठीक हूँ, आप वहाँ जाकर बैठ जाइए।' मैंने कुर्सी की ओर इशारा किया... लेकिन, उस पर मेरे गुस्से का कोई असर नहीं हुआ। उसने बेशर्मी से मुझे अपनी बाहों में जकड़ लिया, और बोला- 'देखो, अगर तुम शोर मचाओगी तो मेरे साथ

तुम्हारी भी बदनामी होगी। इससे मुझे तो ज्यादा फ़र्क नहीं पड़ेगा, लेकिन तुम कहीं की भी नहीं रहोगी।’

उसने यह बात इतनी आत्मीयता से कही कि मैं सहज हो गई। उसकी बातों में कुछ ऐसा जादू था, जिसके प्रभाव से मेरा भय दूर हो गया। अवसर पाते ही मैंने खुद को उससे अलग करते हुए, साहस बटोरकर पूछा- ‘तुम मुझ से चाहते क्या हो.... मुझे इस तरह क्यों जकड़ रखा है?’

‘सॉरी’ कहकर उसने झट से छोड़ दिया और रोनी-सी सूरत बनाकर बोला- ‘मैं कितने दिनों से तुम्हें यह विश्वास दिलाने की कोशिश कर रहा हूँ कि तुमसे बहुत प्यार करता हूँ, हमेशा के लिए तुम्हें अपनी बनाना चाहता हूँ, मगर तुम हर बार मेरी बात को अनसुना करके, मुझे दूसरी बातों में उलझाकर विषय बदल देती हो... अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करता?’

मुझे उस पर बहुत गस्सा आ रहा था; किन्तु परिस्थिति को समझते हुए मैंने सहजता से कहा- ‘यदि वास्तव में तुम मुझसे शादी करना चाहते हो तो आपको मेरे माता-पिता से या बड़ी दीदी से इस विषय में बात करनी चाहिए, न कि इस तरह मुझसे पूछे बिना सुबह-सुबह मेरे घर आना चाहिए।’

‘तुम ठीक कह रही हो। अब मैं ऐसा ही करूँगा; लेकिन प्लीज़ तुम आंटी से मत कहना, मैं तुम्हारे घर आया था।’

उसके जाने के बाद मैंने राहत की साँस ली। मुझे लगा कि मुसीबत टल गई, लेकिन मैं नहीं जानती थी, यह तूफ़ान आने से पहले की खामोशी है। दिन में उसका फ़ोन आया, उसने कहा- ‘आज शाम मैं अपनी दीदी-जीजाजी को तुमसे मिलवाने ला रहा हूँ। तुम मेरे बारे में जो कुछ भी जानना चाहो, उनसे पूछ लेना।’ मुझे याद आया कि पहली मुलाकात में उसने मुझे बताया था कि जब भी वह यहाँ आता है तो अपनी दीदी के घर पर ही रहता है।

साँझ घिर आई थी, किन्तु मोहित अब तक नहीं आया था। मैं बेसब्री से खिड़की पर खड़ी उन लोगों की प्रतीक्षा कर रही थी... तभी मेरी दृष्टि आकाश में छिटके

हुए बादलों के बीच टिमटिमाते दो तारों पर पड़ी। अनायास मेरा मन भविष्य के सुरभित उपवन में विचरण करने लगा... जिसमें प्रीति के पुष्प मुस्कराकर अपनी भीनी-भीनी सुगन्ध से मेरे जीवन को सराबोर कर रहे थे... तभी बादल के उमड़ते-धुमड़ते समूह ने आकर तारों को ढक दिया। तेज़ हवा के झोंके के साथ जब पानी की बौछार मेरे चेहरे पर पड़ी तो मैं चौंककर पीछे हटी और झटपट खिड़की बंद कर दी। मुझे लगा मौसम खराब हो रहा है, शायद अब वे लोग न आयें। यह सोचती हुई मैं खाना बनाने के लिए रसोई की ओर जा ही रही थी कि तभी फ़ोन की घंटी बज उठी। मेधा जी का फ़ोन था, वे हमारे पड़ोस में ही रहती थीं... एक समर्पित समाज-सेविका। उन्होंने बताया, कल सरला बहन की पुण्यतिथि है... उनकी स्मृति में नारी जागृति हेतु एक संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है। इसी सिलसिले में मेधा जी मुझसे मिलना चाहती थीं। मैंने कहा-‘अभी मैं खाना बनाने जा रही हूँ, सात-साढ़े सात तक आ जाऊँगी। यदि आपके पास समय हो तो आप ही चली आइए।’

मैंने सबज़ी काटना शुरू ही किया था कि दरवाज़े की घण्टी बज गई। मुझे लगा, मेधा जी आई होंगी... मैं दरवाज़े पर पहुँची ही थी, अचानक बिजली चली गई। मैंने दरवाज़ा खोलते हुए कहा-‘आप यहीं पर रुकिए। मैं मोमबत्ती जलाकर लाती हूँ।’ यह कहकर जैसे ही मैं मुड़ी, किसी ने मुझे कसकर अपनी बाहों में जकड़ लिया। घबराकर मेरे मुँह से चीख निकल पड़ी, उसने अपनी हथेली से मेरा मुँह बंद कर दिया और बोला-‘घबराओ नहीं, मैं मोहित हूँ।’

उसकी पाशविक जकड़न से स्वयं को मुक्त करने के लिए मैं छटपटाने लगी; किन्तु उसने मुझे नहीं छोड़ा। दूसरे हाथ से दरवाज़ा बंद किया और उस अंधेरी रात में मेरे जीवन से विश्वास के दीपक को बुझाकर चला गया। मैं निर्जीव-सी बिस्तर पर पड़ी रोती रही, किन्तु मेरे आसपास मेरे चीत्कार को सुनने वाला कोई भी नहीं था। मुझे स्वयं से घृणा हो रही थी। पीड़ा के कारण मेरी कमर उठ ही नहीं पा रही थी। मैंने उठने का प्रयत्न किया, किन्तु तन-मन की टूटन के कारण मैं अपनी जगह से हिल भी नहीं सकी।

मैं उसी स्थान पर पड़ी हुई आँसू बहाती रही और ईश्वर को कोसती रही। बिजली आ जाने के कारण कमरा एक बार फिर उजाले से जगमगा उठा था; किन्तु मेरे मन में अब भी अमावस का अँधेरा छाया हुआ था। मैं यह सोचकर काँप उठी, अब जीवनभर इसी अँधेरे में घुट-घुटकर जीना होगा... पर तिल-तिलकर मरना मुझे स्वीकार नहीं था; मैंने निश्चय किया, क्यों न इसी क्षण मैं अपना जीवन समाप्त कर दूँ। यह सोचकर जैसे ही मैं झटके से उठी... मैंने सुना, कोई प्रिया...प्रिया.... पुकारता हुआ मेरी ओर आ रहा है। मुझे याद आया, मेधा जी ने मुझसे आने को कहा था। मैं यह सोच ही रही थी कि तब तक वे मेरे सामने पहुँच चुकी थीं। मेरी दशा देखकर वे हतप्रभ रह गईं। अस्त-व्यस्त सामान और मेरे वस्त्रों को देखकर, उन्हें समझते देर नहीं लगी कि मेरे साथ क्या अनहोनी घटित हुई है। उन्होंने सहारा देकर मुझे बैठाया और मेरे वस्त्रों को ठीक करने लगीं। मैं पलकें झुकाए इस तरह बैठी थी, जैसे मुझसे कोई घोर अपराध हुआ हो।

मेधा जी रसोई में गई और मेरे लिए पानी लेकर आयीं। वास्तव में उस समय प्यास से मेरा गला सूख रहा था। पानी का गिलास मेरे होंठों से लगाती हुई बोलीं – ‘मैं देख रही हूँ जिस बात पर तुम्हें क्रोधित होना चाहिए था, उस पर तुम लज्जित हो रही हो।’

पानी पीकर मुझे अपने शरीर में शक्ति का संचार होता हुआ-सा अनुभव हुआ। मेधा जी की बात सुनकर मैंने उनकी ओर इस तरह देखा, जैसे कोई निरपराध बच्चा अपनी माँ की ओर सहायता की आशा में देखता है। मेरे हाथ से खाली गिलास लेकर उन्होंने नीचे रख दिया और अत्यन्त स्नेहभाव से मेरे सिर पर हाथ फेरने लगीं। मैं उनसे लिपटकर बिलख-बिलखकर रो पड़ी; उन्होंने मुझे तब तक रोने दिया, जब तक कि मेरे आँसू स्वयं नहीं थम गए।

उन्होंने अपने घर फोन करके बताया-‘मैं कल आऊँगी, संगोष्ठी के कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करते-करते देर हो जाएगी।’ उस रात मेधा जी मुझे अपने सीने से लगाए समझाती रहीं... उन्होंने एक क्षण के लिए भी मुझे अकेला नहीं छोड़ा।’

मेधा जी ने मुझे समझाते हुए कहा-‘यह क्यों सोच रही हो कि तुम अपवित्र हो गई हो; जब एक लड़का बलात्कार करके भी अपवित्र नहीं होता और समाज में सिर उठाकर चल सकता है तो तुम क्यों नहीं? जब तक बलात्कार की शिकार महिलाएँ आत्महत्या करती रहेंगी, तब तक किसी नाबालिग लड़की का ही नहीं, वरन् युवतियों और प्रौढ़ाओं का भी बलात्कार होता रहेगा; किन्तु जिस दिन से स्त्रियाँ ऐसे हिंसक नर-पशुओं के विरुद्ध समाज में सिर उठाकर चलना सीख जाएंगी, उसी दिन से वे सिर झुकाकर चलने लगेंगी।’

मेधा जी के इन शब्दों ने मेरी आत्मा को झकझोर कर मुझे जीवित रहने के लिए विवश कर दिया था। अगली सुबह मेरे जीवन की नई सुबह थी। उस दिन मेरा तन, मेरे मन की शक्ति से संचालित हो रहा था... मैं आत्म-बल का अर्थ जान चुकी थी..... और मेधा जी के रूप में स्त्री की शक्ति से परिचित होकर, धीरे-धीरे हीनभावना से मुक्त होती चली गई।

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, एम.बी.रा.स्ना.
महाविद्यालय, हल्द्वानी

संपर्क सूत्र :- dr.prabhapanant@gmail.com

09411196868

पत्र व्यवहार :- 6/861, प्रशान्ति निलयम, खोलिया

कम्पाउण्ड, नवाबी रोड़,

हल्द्वानी, जिला - नैनीताल 263139



डॉ. राजविन्दर कौर

मेरी आँखों से मेरे ख़ाब चुराने आए
अपनी औकात कई लोग दिखाने आए
अपना तो चाक गिरेबाँ सिला जाता नहीं है
मेरी उम्मीद को पोशाक दिलाने आए
चुप था तो मेरी तरफ उँगलियां उठ्टी कितनी
बेलते ही मेरी आवाज दबाने आए
तुम भी आकर सताओ तो कोई बात बने
याद ही तेरी हमेशा क्यों सताने आए
रोटी कपड़ा न मकाँ और दवा भी तो नहीं
कभी मंदिर कभी मस्जिद को बनाने आए
काश उगाते तुम कभी मेरी हथेली पे हँसी
कभी नज़दीक भी आए तो रूलाने आए।

* * *

चले हैं लूटने घर आज नफरत की लगानी है
न जाने शहर की हाथों में किसके निगहबानी है
बड़े ही जलज़ले हैं लौट जाना ही मुनासिब है
बड़ी बेदर्द है मेरे जो अशकों की कहानी है
दिखाकर नोट का लालच खरीदे हैं कई सपने
गरीबों के निवालों की सियासत मेज़बानी है
कलाकारी हमे आती तो शर्मिंदा नहीं होते
दिखावे की यहाँ सबने ही चादर खूब तानी है
चले आओ कि फिर यादों ने घेरा डाल रक्खा है
हमारे मन की खुशबू में महकती रातरानी है।

* * *

मोतबर को आजमाना चाहिए
एक दिन घर को जलाना चाहिए
हमनशीं जो दे गया है इश्क में
दर्द मुझको फिर पुराना चाहिए
महज आँखों में नहीं है शोखियाँ
नाज़ पलकों के उढाना चाहिए
रूठकर जो था गया इक जांनशी
आज उसको लौट आना चाहिए
बरस जायेगी मुहब्बत बेपना
आशिकी में बस बहाना चाहिए

* * *

चाँद की रोटी

खगोल विज्ञानियों को
चाँद पर दिखता है जीवन
कवि को चाँद में
उपमों दिखती हैं
नवयुवक को दिखता है उसमें
अपनी प्रेयसी का चेहरा
एक प्रेमी
तोड़ना चाहता है चाँद
अपनी महबूबा के लिए
लेकिन
एक भूखे बालक को
चाँद में दिखती है रोटी
नरम फूली हुई
गोल रोटी
सफ़ेद आटे की
जैसे
घटते बढ़ते चाँद से
रोज एक टुकड़ा तोड़कर
माँ उसे देती हो खाने को
चाँद से टुकड़ा टूटता है
पर चाँद फिर भी रोज
बढ़ जाता है
और हो जाता है पहले से बड़ा
भूखे बालक के चेहरे पर
एक मुस्कान है
जो चाँद की तरह
रोज बड़ी होती है
वो इंतज़ार में है कि
कब चाँद पूरा होगा
और तब
वो पूरी रोटी खायेगा
माँ परोसेगी उसे
दिनभर सूरज की आग में पकी रोटी
आसमान के गहन
काले तवे से उतारकर

चाँदनी की तरी में भिगो के
एक एक कर निवाला
डालेगी उसके मुँह में
चाँद की तरह
पूरी गोल मटोल रोटी का स्वप्न
हर शाम के ज्वार भाटे के बाद
उसके मुस्कराते हुए चेहरे पर
तैरता रहा रात भर...!!

* * *

बरगद और बापू

बापू आते हैं घर में
तो दहलीज पर जरा खाँस लेते हैं
आगाह कर देते हैं माँ को
ताकि वह बिना माँगे
ले आये पानी का गिलास
ताकि घर की बहें
माथे तक सरका लें ओढ़नी का पल्लू
ढक लें अपनी चपलता चंचलता
बिट्टो
समेट ले अपनी बिखरी हुई शालीनता
और बैठ जाये सिमट कर
हाथ में कोई किताब थामे
बंटू हाथ से रिमोट सरकाकर
आँखे बंद कर लेट जाए आधा सोया हुआ सा
जैसे बहुत थका हो दिनभर खटकर

थमे हुए सारे क्षण हो उठते हैं गतिमान
जल उठता है चूल्हा
बहने लगती है घर के
आँगन के नल से पानी की धार
हर कदम ढूँढ लेता है कोई दिशा
हिम्मत करके भी न कोई पूछ पाए
कहाँ गए थे कहाँ से आये हो
ये क्षेत्र बस माँ का है
वही पूछती हैं केवल
लेकिन उत्तर जानने को
सारा घर उत्सुक होता है
बापू बोलते हैं तो
घर की दीवारें चुप साध लेती हैं
खिड़कियों से आती हवा में आ जाती है शिथिलता
बापू का घर आना कितना सहज है
पर सभी को कर देती है असहज
उनकी घर में उपस्थिति
कोई नहीं देख पाता
बापू की आँखों में आँखें डाल
कि सूरज से कौन नजर मिलाए
कौन जा पाए उनकी आँखों में समाए हुए
विस्तृत आकाश के पार
उनका होना
बरगद के पेड़ की छाँव जैसा
नीरसता शुष्कता जो भी हो
बरगद छाँह घनी देता है



कहानी समीक्षा (पहली बख्शीश – रजनी मोरवाल)

तबस्सुम जहां

हिन्दी साहित्य जगत में 'रजनी मोरवाल' किसी परिचय की मोहताज नहीं है। वर्तमान समय में रजनी जी सफल कहानीकार, गीतकार, कवयित्री तथा कर हैं। समय-समय पर इनके कहानी संग्रह, काव्य संग्रह, गीत संग्रह, साक्षात्कार आदि भारत की प्रतिष्ठित पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्य तथा मीडिया जगत द्वारा रजनी जी को अनेक पुरुस्कार तथा सम्मानों से नवाज़ा गया है। यूँ तो रजनी मोरवाल ने समाज के लगभग सभी वंचितों व हाशिये पर रहे लोगों को अपने लेखन में स्थान दिया है परन्तु 'थर्ड जेंडर' जैसे विवादस्पद विषय पर कहानी लिख कर वे उन गिने-चुने लेखकों में शामिल हो गयी हैं जिन्होंने किन्नर समाज को निर्भीकता के साथ अपने साहित्य में स्थान दिया है।

सामयिक प्रकाशन की पत्रिका 'सामयिक सरस्वती' के 'थर्ड जेण्डर विशेषांक' में प्रकाशित 'पहली बख्शीश' कहानी परिवार से उपेक्षित और समाज से बहिष्कृत एक ऐसे युवक की कहानी है जो स्त्री-पुरुष दो शरीरों के बीच झूल रहा है। कहानी का केन्द्रीय पात्र 'रतन' एक किन्नर के रूप में जन्म लेता है। उसका जन्म परिवार के लिए खुशी का नहीं अपितु लज्जा का विषय है। जैसे- जैसे रतन बढ़ा होता है उसे अपने शरीर और हाव-भाव के कारण जिन-जिन पारिवारिक और सामाजिक विसंगतियों से जूझना पड़ता है उसका सफल और मार्मिक चित्रण लेखिका ने इस कहानी में किया है। बेटे के शरीर और अजीब हाव भाव के कारण पिता द्वारा उसे अभिशाप मानना व छोटी बहन का अपने भाई से स्नेह रखने पर भी अपनी सखियों से मिलवाने में कतराना परिवार में

उसकी दयनीय स्थिति को उजागर करता है। पूरे परिवार में केवल उसकी माँ ही है जिसके ममत्व और वात्सल्य की छांव में रतन पलता बढ़ता है। किन्नर बालक जब घर से बाहर कदम निकालता है और स्वयं को सभ्य कहने वाले समाज की गिद्ध दृष्टि किस प्रकार उसकी देह को नोच-खसोट लेना चाहती है लेखिका ने इसको सहज तरीके से रेखांकित किया है। रतन का उसके हम ऊम्र लड़कों के साथ अश्लील व्यवहार, उनके ताने और फब्तियां कसने पर बालक मन पर होने वाले प्रभाव तथा उससे बचने के लिए रतन का असमय स्कूल छोड़ना आदि प्रसंग बहुत कुछ सोचने पर विवश करते हैं। रतन का शरीर न तो पूर्ण मर्द का है और न ही औरत का। कभी-कभी तो स्वयं को आइने में देख कर वह घृणा से चीख उठता है! विसंगति ये है कि जैसे-जैसे वह बड़ा होता है उसका शरीर उसके लिए अभिशाप बनता जाता है उसमें विरोधाभासी लक्षण प्रकट होने लगते हैं जो रतन के लिए चिंता व समाज के लिए हास्य का विषय बन जाते हैं।

अर्धपुरुष व अर्धनारी के बीच झूलते रतन की मनःस्थिति को लेखिका ने बहुत ही खूबसूरती से पाठकों के सामने रखा है। रतन के भीतर की चंचलता, किसी स्त्री के समान स्वयं को सजाना संवारना, उन्मुक्त होकर नाचने-गाने की ललक और बहन की शादी में स्त्री रूप में नाचने के कारण पिता द्वारा हुई भयंकर पिटाई रतन को मुम्बई भागने पर विवश करती है। मुम्बई की चकाचौंध में भीतर तक पैठे घुप्प अन्धकार में रतन अपने शरीर के कारण बार-बार बलकृत होता है। त्रासदी यह है कि

समाज का काला भयावह अन्धकार न केवल रतन को अपनी आगोश में लेकर नोचता-खसोटता है, बल्कि उसकी आत्मा तक को ज़ख्मी कर देता है। एक अजनबी शहर में निराश्रित, भूख से व्याकुल और माँ की ममता की छांव से दूर रतन के दुखों का अंत केवल यही नहीं होता शहर के किन्नर टोली द्वारा रतन का जबरन अपहरण तथा उनसे मिली भीषण यातनों व उनके द्वारा रतन का बलात्कार एकबारगी तो पाठकों में किन्नर समाज के लिए घृणा पैदा करती हैं परन्तु 'गज़ाला' व 'रमैया' किन्नर पात्र इस घृणा से भी पाठकों का दिल पसीजने में सफल होते हैं। गज़ाला रतन से कुछ हमदर्दी रखती है क्योंकि रतन में वह स्वयं को देखती है। गज़ाला रतन को पूर्ण स्त्री बनाना चाहती है उसका मानना है कि सभ्य समाज आधे शरीर में उसको कभी स्वीकार नहीं करेगा। ये लोग रतन का लिंग विच्छेद करके उसे पूर्ण स्त्री बनने के प्रक्रिया से गुज़ारना चाहते हैं जो स्वयं में किसी नरक की पीड़ा से कम नहीं है। गज़ाला और रमैया किन्नर पात्रों के माध्यम से लेखिका ने किन्नर समाज से जुड़े गूढ़ रहस्यों और परम्पराओं को उजागर किया है। अर्धपुरुष को पूर्ण स्त्री बनाने की अमानवीय परम्परा और उसे उत्सव के रूप में मनाए जाने की प्रथा को सभ्य कहे जाने वाले समाज को भीतर से झंझोड़ सकती हैं।

कहानी अनेक स्थलों पर रोचक मोड़ लेती है व किसी फिल्म की भांति पाठकों में कौतुहल जगाती है। रतन का नाटकीय ढंग से किन्नर टोली की चुंगल से निकल भागना, स्वयं को इतने बड़े शहर में एक बार फिर से अकेला पाना, भूख के कारण भीख मांगने पर विवश होना, मंदिर में पुजारियों द्वारा अपमानित होने पर आस्तिक रतन का ईश्वर की सत्ता से मोहभंग होना आदि अनेक मार्मिक प्रसंग पाठकों की आँखों को नम कर जाते हैं।

ये समाज रतन जैसे लोगों के लिए बहुत क्रूर है। समाज और भगवान दोनों ही उसके लिए नहीं हैं यह अवधारणा उसे घर वापसी पर विवश करती है। पिता की मार में भी उसे अब अपना हित नज़र आता है। वह माँ की ममता की छांव में अपना बाकि जीवन जीना चाहता

है। विसंगति यह है कि गांव पहुँचने पर उसके माँ-बाप दोनों ही उसे अपनासे से इन्कार कर देते हैं। माँ-बाप द्वारा टुकराए जाने पर रतन के कोमल हृदय को बहुत अघात लगता है। वह मानसिक रूप से बुरी तरह टूट जाता है। वह घर का मोह नहीं छोड़ पाता और न ही अपने जैसे लोगों की जमात में सम्मिलित होना चाहता है। अतः रतन गांव में ही रहकर किन्नर रूप धारणा करता है और किन्नर बनकर सबसे पहले अपनी बहन के यहाँ बच्चा होने की खुशी में नाचता गाता है। घूँघट ढके होने के कारण रतन के माँ बाप उसको पहचान नहीं पाते और बख्शीश के रूप में उसे चांदी की पाजेब व नोटों की गड्डी देते हैं।

रतन के सपनों को चकनाचूर उसके अपने परिवार द्वारा ही किया जाता है। पहली बख्शीश देकर उसके माँ बाप ही उसके लिए किन्नर बनकर नाचने गाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। रतन पढ़ने में अच्छा था वह पढ़-लिख कर बड़ा आदमी बन सकता था। वह रामलीला में अच्छा अभिनय करता है अतः वह आगे चलकर अच्छा कलाकार बन सकता है चूंकि रतन ने किन्नर रूप में जन्म लिया है अतः हमारे सभ्य समाज को यह दोनों ही स्थितियाँ स्वीकार्य नहीं हैं। रतन का परिवार उसे लज्जा का विषय मानता है और समाज के लिए वह एक अभिशाप है। उसने किन्नर रूप में जन्म लिया है अतः पूरा जीवन ही उसे नाच गा कर बख्शीश पर बिताना है यही कहानी का मूल सार है। इस प्रकार 'पहली बख्शीश' कहानी का नाम पूरी तरह से शीर्षक की सार्थकता को सिद्ध करता है। कहानी में अनेक प्रसंग बहुत ही मार्मिक बन पड़े हैं। कहानी में लेखिका ने बहुत ही सरल सहज शब्दावली का प्रयोग किया है! 'लिंग कटना' और उसके साथ ही बाय-बाय कहते हुए आकाश में पतंग कटने का प्रसंग लेखिका की बेहतर कल्पनाशीलता व उनकी कहानी पर पड़े काव्यात्मकता शैली को दर्शाता है। कहानी अपनी रोचकता व उत्सुकता के कारण आरम्भ से अंत तक पाठक को बांधे रखती है! समीक्षा आंकलन की दृष्टि से 10 में से 8 अंक देना कहानी के साथ न्याय होगा।

E mail- tabijahan03@gmail.com



लोक गीत परंपरा में स्त्री वेदना के स्वर

अनुराधा गुप्ता

पश्चिमी शक्तिशाली और विकसित राष्ट्रों की अपनी संस्कृतियों के वर्चस्ववादी अभियान के तहत वैश्वीकरण अथवा ग्लोबलाइजेशन की आधुनिक संकल्पना का प्रसार चरम पर है। इस अभियान के अंतर्गत, बाजारवाद के वृहद शक्तिशाली जाल में पूरी दुनिया को जकड़कर स्थानीयता (लोकल) से बेदखल करने के षड्यंत्र को, संवेदनशील प्रबुद्ध व्यक्ति भली-भाँति समझने लगा है। इसीलिए आज पुनः 'लोक' से जुड़ी अस्मिताओं की पहचान और संरक्षण के सवाल उठने लगे हैं। इसी प्रयास में हमारी दृष्टि सबसे पहले लोक साहित्य की तरफ उठती है क्योंकि इसी में हमारी संस्कृति अपने खालिस रूप में अजस्र रूप से बहती नजर आती है। लोककंठ से प्रस्फुटित यह लोक साहित्य, लोक हृदय, लोक चेतना, लोक संवेदना का परिचायक साहित्य है जिसमें भारतीय हृदय की सांस्कृतिक अस्मिता का सच्चा उद्गार है तथा 'स्वदेश' भाव की अभिव्यक्ति है।

लोक का सहज आकर्षण हर किसी को प्रिय होता है। उसके सामने कृत्रिम सुंदरता हेय प्रतीत होती है। महाकवि कालिदास ने कहा है - 'दुरीकृता खलूद्यानलता वनलताभिः' अर्थात् वनलताओं ने उद्यानलताओं को पीछे रख दिया। उन्होंने बिल्कुल सही ही कहा कि जो आकृति से मधुर होते हैं उन्हें मंडन (मेकअप) की आवश्यकता नहीं होती - 'किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम।' लोक स्वभाव से मधुर होता है। उसे अलंकरण की आवश्यकता नहीं होती। वैदिक साहित्य में जो स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं वे दीर्घकालीन लोकव्यापी मनोभावों का ही प्रकटीकरण है। यही स्थिति संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में व्याप्त देखी जा सकती है।

लोकसाहित्य हर क्षेत्र का अपना होता है परंतु

फिर भी वह पड़ोसी बोली से अप्रभावित नहीं रहता है। प्रभाव की यह परंपरा बढ़ती सुदूर देशों तक चली जाती है। एक लहर से दूसरी लहर तक बनती आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार लोकप्रवाह बनता बढ़ता और थोड़ा-थोड़ा रूपांतरित होता जाता है किंतु मूल रूप नहीं बदलता। उसमें निहित स्थानीयता का बीज ही उसे स्थानीयता का रंग देता है। जैसे लोकगीतों में भरथरी गीत। 'भरथरी गीत वही होते हुए भी कभी मालवी, कभी बघेली, कभी राजस्थानी और कभी छत्तीसगढ़ी हो जाता है और वही बनता बहता नेपाल तक भी पहुँच जाता है, बिहार तक चला जाता है और बंगाल में भी अपना रूप पा लेता है। मराठी में कुछ और रूप पा लेता है। 'एकोअहं बहु स्याम' का प्रत्यक्ष प्रमाण।' (लोकभाषा और साहित्य : बी.एल. राजपुरोहित)

लोकसाहित्य की जड़ें वैदिक साहित्य में भी मिलती हैं। ऋग्वेद में लोक शब्द का प्रयोग स्थान और भुवन के अर्थ में प्राप्त होता है। भारत में आर्यों के आगमन के बाद 'आर्य' एवं 'आर्येतर' जातियों के मध्य 'वेद' एवं 'वेदेतर' स्थिति का आविर्भाव हुआ। उस दशा में वेदेतर शब्द का प्रयोग लोक के लिए होने लगा। यहाँ 'लोक' शब्द वेद विरोधी अर्थ में लिया गया। किंतु आगे चलकर लोक शब्द इस संकुचित सीमा से आगे उठ गया। बौद्ध धर्म के विकास के साथ मानव भावना का महत्व बढ़ने लगा और लोक शब्द मानवीय उत्कृष्टताओं का बोधक बन गया।

लोक की व्यापक भावसत्ता को ग्राम या नगर की संकुचित सीमा में बद्ध नहीं किया जा सकता। इस संबंध में डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है। बल्कि नगरों और

ग्रामों में फैली समस्त जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि संपन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यासी होते हैं तथा परिष्कृत रुचि संपन्न व्यक्तियों की विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने वाली आवश्यक वस्तुएं उत्पन्न करते हैं। (डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी : जनपद, वर्ष-1, अंक-1, पृ.65) डा. द्विवेदी के इस कथन से स्पष्ट है कि जो अपनी परंपराओं से जुड़े हुए कृत्रिमता से दूर हैं उन्हें 'लोक' की संज्ञा दी गई है। लोक की परंपरा, संस्कृति, विचार, रीति-रिवाज आदि को संरक्षित और संवर्धित करने वाले साहित्य को ही लोक साहित्य कहा जाता है। जनजीवन के सहज स्वाभाविक और सच्चे चित्रण का आधार यही साहित्य है। सामान्य जन समूह, जो अपनी नैसर्गिक प्रकृति के सौन्दर्य से संस्कृति का निर्माण करता है, लोक साहित्य की अभिव्यक्ति का आधार है। 'उच्चवर्गीय शिष्ट समाज ने अपने कृतित्व को लिपिबद्ध किया और अध्ययन-अध्यापन की परंपरा द्वारा समस्त अर्जित ज्ञान को सुरक्षित और संरक्षित रखने का प्रयास किया। इसके विपरीत निम्नवर्गीय सामान्य जनता पठन-पाठन की सुविधा से वंचित रही, अतः सुविधाविहीन लोकजन ने अपने संस्कारों, रिवाजों, परंपराओं एवं संस्कृति को लोकगीतों, लोककथाओं एवं लोकनाटकों के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास किया। अन्य की अपेक्षा लोकगीत लोक-साहित्य की सबसे सशक्त विधा है।' (प्रतीक्षा दुबे, आजकल, मार्च-2015)

लोकगीतों में जनमानस के हार्दिक राग विराग से पूर्ण, स्वर और लय के संगीतात्मक आवरण से लिपटी, भावानुभूतियों का निश्छल प्रवाह बहता है। जिसमें लोकजीवन के समस्त रीति-रिवाज, लोकपरंपराएँ, धार्मिक कृत्य, विधि-विधान, मिथक, लोककथों, प्रतिरोध, आशाएँ, उम्मीदें, हर्ष-विषाद, उल्लास-नैराश्य सभी कुछ प्रतिबिंबित होता है। लोक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं - 'किसी देश के लोकगीत उस देश की जनता के हृदय के उद्गार हैं। वे उनकी हार्दिक भावनाओं के सच्चे प्रतीक होते हैं। यदि किसी देश की सभ्यता का अध्ययन करना हो तो सर्वप्रथम उनके

लोकगीतों का अध्ययन करना होगा। लोकगीत लोकमानस की वस्तु है, अतः उनमें जनता का हृदय लिपटा रहता है।'

भारतीय लोक साहित्य के निर्माण में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का योगदान अधिक रहा। लोकगीतों में सदियों से झरते स्त्री मन के अथाह दर्द, पीड़ा, प्रेम, आशा, आकांक्षा, प्रताड़ना आदि को साफ महसूस किया जा सकता है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में नारी के कंठ से उसके अपने भाव और अभाव के उद्गार प्रकट होते रहे हैं। वस्तुतः ये लोकगीत समाज के घात-प्रतिघात का सच्चा रूप व्यक्त करते हैं।

समाज की बड़ी विडंबना रही है कि जिस घर में एक लड़की का जन्म होता है वह उसे अपना घर नहीं कह सकती क्योंकि विवाह के बाद वह जिस घर में जाएगी वही परंपरा के अनुसार उसका 'अपना' घर है। किंतु वास्तविकता में ससुराल में बेगाने लोगों के बीच वो उस घर को भी अपना नहीं समझ पाती। आत्मीयता के अभाव में उसे मायका ही याद आता है जहाँ अब वह सिर्फ मेहमान की हैसियत रखती है। बेटी की मायके के प्रति हुलस, सास-ननद का भय और दोनों पक्षों का एक दूसरे के प्रति कड़वापन भारतीय समाजिक स्थिति की विडंबना को उजागर करते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

'क्यों रे नऊआ पेट कटऊआ क्यों (चों) दीनी परदेस जी,
कहा करूँ जिजमान की बेटी करम लिखा परदेस जी,
चिड़ी होय तो बाँच लेउ पै करम न बांचौ जाय जी।
'सासू तो ऐ मैया बुढ़िया डोकरिया
आजु मरै की काल्हि रे।
ननदी तो ए भैया बन की कोइलिया
आजु उड़ै की तो काल्हि रे'।

पति स्त्री का सर्वस्व है, उसके सुख-दुख का सहभागी है। पुत्राभाव की वेदना दोनों के लिए समान है, जिसमें दोनों को एक-दूसरे का दर्द समझना चाहिए। किंतु हमारे समाज में हमेशा से इसके लिए सिर्फ स्त्री ही उत्तरदायी मानी जाती है। संतानहीनता का सारा दोष

उसके ही सिर मढ़ा जाता रहा है। ऐसे में अगर पति भी उसे ही दोषी मान कर उसकी अवहेलना करे, व्यंग्य कसे तो स्त्री के लिए यह स्थिति बेहद तकलीफदेह और असहनीय हो जाती है। एक अवधी लोकगीत का उदाहरण दृष्टव्य है -

‘पानु ऐसी पतरी बहुरिया, कुसुम रंग सुंदरि रे।
सुंदरि चढ़ गई पिया की अटरिया, सोवहि सुख
निंदिया रे।

सोइ सोइ जब जागी पलंग चढ़ि बैठी रे।
राजा छांडि देउ अँचरा हमार घरै हम जइवे रे?
की तोरी सासु बोलावहि, कि ननद जगावे रे।
सुदरि की तोरे बारे होरिलवा, जिनहि लई बैठो?
न मोरी सासु बोलावै, न ननद जगावै रे।
न मोरी बारे होरिलवा, जिनहि लइ बैठो रे?
महल से उतरी बहुरिया, आंगन बिच ठाढ़ी रे।
भइया तोरे बोले हैं बोल,
कलेजे मोरे सालै, जनम नहि बिसरहि रे’।

पति के व्यंग्यात्मक शब्द स्त्री के मन में शूल की तरह चुभ जाते हैं। संतानहीन स्त्री जब सूर्य उपासना से पुत्र प्राप्त करती है तब सास-ससुर देवर और अपने भाग्य को तो सराहती है किंतु पति के लिए कुछ नहीं कहती। पति के संबंध में मौन रहती है। पति द्वारा किया गया अपमान उसके मन में अभिमान जगा देता है। हिंदू समाज में निःसंतान स्त्री-पुरुष दोनों की भर्त्सना की गई है। किंतु निःसंतान स्त्री सर्वाधिक उपेक्षा की पात्र रही है। निम्नलिखित भोजपुरी गीत में स्त्री-करुणा की पराकाष्ठा है। जहाँ बाँझ स्त्री की चर-अचर सर्वत्र घोर उपेक्षा की मार्मिक व्यंजना की गई है।

‘सासु मोरी कहेली बंझनियाँ ननद ब्रजवासिनि हो।
रामा जिनके मैं बारी रे बिआही अहो घर से
निकसलनि हो?
घरवा से निकसी बंझनियाँ जंगल बिच ठाढ़ भइली
हो’।

इसमें ऐसी स्त्री की अपार पीड़ा झर रही है जो अपनी ससुराल से संतानहीनता के अपराध में निष्कासित किए जाने पर जंगल में बाघिन और नागिन की शरण में

जाती है वे भी उसे नहीं रखती। जन्म देने वाली माता भी उसे नहीं रखती। और अपार वात्सलयमयी, सबकी शरणस्थली धरती माँ भी उसे ‘ऊसर’ होने के भय से शरण नहीं देती। यह गीत संतानहीन स्त्री की पीड़ा सामाजिक तिरस्कार और अन्याय को बखूबी शब्दों में ढाल देता है। अवधी क्षेत्र में भी किंचित शाब्दिक परिवर्तन के साथ यह गीत प्रचलित है -

‘सासु मोरी कहेसि बंझनिया ननद ब्रजवासिनि हो।
रामा जिनकी मैं बारी रे बियाही उइ घर से निकारेनि
हो’?

दहेज प्रथा सभ्य मानव समाज का कलंक है। घर में बालिका के जन्म के समय मातम, कन्या भ्रूण हत्या, माता-पिता के लिए लड़की बोझ के समान होना, अनमेल विवाह और दहेज के कारण स्त्री की नर पिशाचों द्वारा हत्या आदि इसी प्रथा के अभिशाप के कारण हैं। निर्धन या औसत आमदनी वाले पिता को अपनी पुत्री के विवाह के लिए दहेज जुटाने की चिंता खाए जाती है। इसीलिए स्त्रियाँ गाती हैं -

‘धी होवे तो धन होवे, धन बिन धी न हो।
धी रखी मेरे बाप ने, जेड़ा झुर-झुर पिंजर हो।
कोठे तो कोयल कूकदी धी न रखिओ कोई’।
(पंजाबी लोकगीत)

दहेज यदि जैसे-तैसे जुटा भी दिया गया हो, या यदि पिता संपन्न हो, तो भी विवाह के बाद बेटी की सकुशलता के प्रति निश्चित नहीं रह पाते जब तक बेटी अपने ससुराल से आकर अपने सकुशल होने की खबर नहीं देती। ससुराल से आकर बेटी माँ से गले मिलती है और दोनों फूट-फूट कर रोते हैं। अपनी जड़ों से उखाड़ दी गई बेटी दुखी होकर सोचती है कि बेटियाँ पैदा ही क्यों होती हैं-

‘मांवां ते धियां रल बैठियांनी माय / कुज करदियां
गलोड़िया (बातें)

नी कनका लम्मियां धियां क्यों जम्मियां माय नी
माय’। (पंजाबी लोकगीत)

आज भी हमारे देश के कई या कहीं अमूमन सभी

प्रांतों में स्त्री का सम्मान उसके पुत्र पैदा करने से होता है। पुत्र को जन्म देने वाली स्त्री का महत्व बढ़ जाता है, जबकि पुत्री को जन्म देने वाली जननी को परिवार में उपेक्षा और तिरस्कार का सामना करना पड़ता है। प्रसवोपरान्त उसके साथ तमाम तरह के दुर्व्यवहार किए जाते हैं। पुत्र जन्म पर खाने में मेवे, फल आदि, ओढ़ने के लिए दुशाला और पसंगी में चंदन की लकड़ी जलाई जाती है, जबकि पुत्री को जन्म देने पर कुश की घास बिछाने व ओढ़ने के लिए तथा खाने में जंगली फल और पसंगी में खुखुड़ी (सूखा भुस)। इस प्रकार के भेदभाव के वर्णन अनेक लोकगीतों में मिलते हैं -

‘अइसन दइ में के पुरहन, दहे बिच कांपेले रे।
ए ललना, ओइसन कांपेले हमरो हरिजी, धिया का रे
जनम नु रे।
कुस ओढ़न कुस डासन, बनफल भोजन रे।
ए ललना, खुखुरी के जरेला पसंगिया, निनरियो ना
आवेला रे’।

वस्तुतः भारत देश के अलग-अलग प्रांतों में, क्षेत्रीय बोली-बानी के अनुसार लोकगीतों की अत्यंत समृद्ध, विस्तृत और मजबूत परंपरा देखी जा सकती है। भिन्न-भिन्न अवसरों, रोजमरी के क्रिया कलापों, भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए, गाए जाने वाले इन लोकगीतों की विस्तृत और समृद्ध परंपरा की जड़ लोकमानस में गहरे तक धँसी हुई है। इन्हीं लोकगीतों के बहाने लोक समाज की स्त्री-मन के विविध भावोच्छ्वास अपनी संपूर्ण तरलता और उद्दाम वेदना के साथ प्रकट हुए हैं। यह स्त्री उस समाज की है जहाँ आज भी वह; स्त्री सशक्तिकरण

के तमाम तामझाम के बावजूद; पीड़ित है, पराधीन है, अशिक्षित है और शोषित है किंतु संघर्षरत है। अपनी इन विपरीत परिस्थितियों से बाहर निकलने की उसकी छटपटाहट इन गीतों में साफ दिखती है। ये लोकगीत न सिर्फ उसकी वेदना को बयाँ करते हैं बल्कि इनमें उसका प्रतिरोध भी दर्ज हुआ है। कन्या जन्म पर परिवार की उपेक्षित प्रतिक्रिया पर स्त्री का गुबार इस लोकगीत में साफ दिखता है जहाँ वह कहती है कि यदि उसे पता होता कि उसके गर्भ में कन्या है तो वह उसे जन्मने ही न देती -

‘जाहु हम जनिती धियवा कोखी रे जनमिहे,
पिहितों में मरिच झराई रे,
मरिच के झाके झुके धियवा मरि रे जाइति,
छुटि जाइते गरुवा संताप रे’।

भला कौन सी माँ अपने कोख के जाए को अपने हाथों से मौत देना चाहेगी। सृष्टि की हर माँ अपने शिशु के लिए दुनिया भर की बलाएँ अपने सिर ले उसके लिए लंबी से लंबी उम्र की कामना करती है। किंतु यहाँ माँ का अपने नवजात शिशु के लिए मृत्यु की कामना इसलिए करना कि वह कन्या है; समाज के विकृत रूप को सामने लाता है। यह गीत स्त्री के मन के गहरे विक्षोभ और वितृष्णा का परिचायक है।

फ्लैट - बी103, प्लॉट - 8 बी, CBIP CGHS,
सेक्टर-7, द्वारिका, नई दिल्ली-75
09968253219
anuradha2012@gmail.com



‘जादू है..नशा है’

राजीव तनेजा

गणेश जी की मूर्ति के आगे बीवी धूपबत्ती कर रही है और पति अपने काम पर जाने के लिए तैयार हो रहा है। काम पर जाते हुए पति का रास्ता रोक कर बीवी...

‘अरे!...लो...अभी अभी भोग लगाया है...प्रसाद तो ले लो।’

‘देखो...मैं तुम्हें मना नहीं करता कि तुम चाहे जो मर्ज़ी करो लेकिन प्लीज़...मुझे ना इन सब पचड़ों से दूर रखा करो। मुझे ये सब बेकार के फंड लगते हैं।’

‘तुम्हें तो मेरी पसंद का हर काम ही खामखाह का फंड लगता है। अरे!...जिसके सहारे ये पूरी सृष्टि...ये पूरी दुनिया चल रही है, कम से कम थोड़ी देर के लिए ही सही मगर उसका तो ध्यान कर लिया करो।’

‘मेरी सारी दुनिया तो मेरी माशूकाओं के सहारे चल रही है और फॉर यूअर काइंड इनफार्मेशन मैं थोड़ी देर के लिए नहीं बल्कि हर समय उन्हीं के ख्यालों में खोया रहता हूँ।’

‘हंह!...ये मूंग और मसूर की दाल। माना कि तुम्हारी पर्सनैलिटी कभी बढ़िया हुआ करती थी लेकिन अब...अब बाल देखें हैं अपने? मैं रंगना छोड़ दूँ ना तो महीने भर में सब आटे दाल का भाव पता चल जाए।’

‘तुम ना...अपना ज्ञान अपने पास ही रखा करो। वैसे भी मुझे काम पर जाने के लिए देर हो रही है। एक तो वैसे ही काम नहीं है ऊपर से तुम शुरू हो जाया करो। लेट पहुँचा तो हाथ आते बकरे भी इधर उधर हो बिदक जोंगे।’

‘तुम ना बस भगवान को मानना शुरू कर दो। देखना सब अपने आप ठीक हो जाएगा।’

‘चलो!...अच्छा अगर ऐसी बात है तो बताओ...मैं क्या करूँ कि मेरे बालों समेत एकदम से सब का सब कायापलट हो जाए।’

‘बालों की तो मैं गारेंटी लेती नहीं लेकिन हाँ...कुछ ना कुछ अच्छा तो ज़रूर ही होगा। अब आरती तो मैं कर ही चुकी हूँ ... फिलहाल तुम गणेश जी के आगे बस मत्था टेक के ही चले जाओ।’

‘वैसे मुझे विश्वास नहीं है लेकिन चलो...अगर तुम कहती हो तो लो...मैं मत्था टेक देता हूँ...अब खुश?’

‘बहुत।’

‘अब अगर आप आज्ञा दें तो क्या मैं अपने काम पे जा सकता हूँ?’ सलाम की मुद्रा में पीटीआई झुकते हुए।

‘बड़े शौक से।’

‘ओके बाय।’

‘ध्यान से जाना...बाय।’

‘गणेश जी...बालों का तो खैर...आप रहने ही देना। बस..बाकी की मेरी बात और अपने विश्वास की प्लीज़..आप लाज रखना।’ पति के जाने के बाद बीवी गणेश जी के आगे श्रद्धा से माथा टेकते हुए।

पति के जाने के बाद बीवी घर के कामों व्यस्त हो जाती है।

शाम के समय.. कॉल बैल की आवाज़ और बीवी के दरवाज़ा खोलने पर पति अन्दर आता है और अपना बैग साइड पर रखने के बाद भगवान के आगे

माथा टेकता है। उसे ऐसा करते देख बीबी हैरान हो कर कहती है....

‘आज ना सच्ची...मैं बहुत खुश हूँ...भगवान ने मेरी सुन ली। तुम बस रुको एक मिनट...मैं प्रसाद ले कर आती हूँ।’ बीबी हड़बड़ा कर बोलते हुए।

‘अरे!....प्रसाद की तुम चिंता ना करो... मैं अभी मंदिर से ही हो कर आ रहा हूँ। लो...तुम भी प्रसाद ले लो।’ पति उसे सोफे पर बिठाता हुआ बोला।

‘मुझे ना सच्ची...विश्वास ही नहीं हो रहा कि आप...ऐसे अचानक...कमाल है...इतना कायापलट एक ही दिन में?’

‘अरे!....एक ही दिन में नहीं बल्कि कुछ ही घंटों में कहो। अभी कुछ घंटों पहले ही मुझे ये एहसास हुआ कि कोई ना कोई ऐसी शक्ति तो ज़रूर है इस नश्वर संसार में जो इस हवा, पानी, आग और हम सबको अपने कंट्रोल में रखती है।’

‘मगर कैसे?...तुम तो इन सब चीज़ों को बिल्कुल नहीं मानते थे। उलटा हमेशा मुझे ही डाँटते रहते थे कि मैं खामख्वाह के फंड करती रहती हूँ।’

‘अब यार...क्यों शर्मिंदा कर रही हो? मैं अपनी ग़लती मान तो रहा हूँ। बस इतना समझ लो कि जब जागो तब सवेरा। आज तो दुकान में काम भी अच्छा निकला।’

‘मैं भी तो यही कहती थी लेकिन तुम...

‘छोड़ो यार उन गयी बिसरी बातों को। अब तो मैंने ठान लिया है कि रोज़ सुबह शाम मंदिर जाया करूँगा और सारे के सारे व्रत उपवास वगैरह भी एकदम नियम से और सही से रखूँगा।’

‘सच्ची...मैंने तो आज भगवान से कुछ और भी माँगा होता ना तो मेरी वो मन्त भी पूरी हो जाती...थैंक गॉड।’

‘सच बताऊँ...आज अगर वो बाबा मुझे नहीं मिलता ना तो मुझे कभी भी इन चमत्कारों और दैवीय शक्तियों में यकीन नहीं आता।’

‘बाबा?’ बीबी के चेहरे पे सवालिया निशान।

‘हाँ!....आज एक बहुत ही चमत्कारी बाबा से मेरी मुलाकात हुई।’

‘लेकिन कहाँ?...तुम तो सीधा अपने काम पर ही गए थे ना? या कहीं और तो नहीं चले गए थे? देखो...मुझसे झूठ बिल्कुल नहीं बोलना। तुम्हें मेरी कसम है।’

‘अरे!....बाबा...काम पर ही गया था और कहीं नहीं गया था। तुम चाहो तो सी.सी.टी.वी. की रेकॉर्डिंग चैक कर लो।’

‘वो तो मैं करती ही रहती हूँ हमेशा। बस...आज ऐसे ही थोड़ा आलस सा हो रहा था तो नहीं की।’ (बीबी के चेहरे पे अफसोस के भाव।)

‘तुम ना बस्स मुझे शुरू से सब बताओ कि क्या हुआ था?’ (बीबी का उत्साहित स्वर।)

‘सुबह जब मैं घर से निकला ना तो बीच रस्ते मुझे लिफ्ट के एक लिए एक बूढ़े फकीर ने हाथ दे के रोक लिया।’

‘लिफ्ट के लिए?’

‘हाँ!....

‘दिमाग खराब था?’

‘बाबा का?’

‘नहीं!....तुम्हारा।’

‘मेरा भला क्यों होने लगा? अच्छा भला ठीकठाक ही तो आज घर से गया था। पता नहीं शायद...’

‘शायद क्या?...पक्का दिमाग खराब हो गया होगा आज तुम्हारा।’

‘तुम्हारी मत्था टेकने वाली जो बात मान के घर से निकला था? लेकिन उससे तो...’

‘नहीं!....वैसे ही दिमाग खराब है तुम्हारा? उस खटारा में इतनी जान है भी कि तुम किसी को लिफ्ट देते फ़िरो? 18- 20 से ज़्यादा की स्पीड तो कभी पकड़ती

नहीं है और जनाब लिफ्ट दे पुण्य कमाने चले हैं

‘18- 20 नहीं...वो तो बड़े आराम से 24- 25 की स्पीड दे देता है। मैंने खुद कई बार चैक किया है कि....

‘बात मानने वाली तो है नहीं लेकिन चलो...मैं मान लेती हूँ...24- 25 की ही सही लेकिन इस स्पीड की स्कूटरी पर भला कौन?...किसको लिफ्ट देता है भला? हुंह!...लिफ्ट देने वाला भी पागल और लिफ्ट लेने वाला भी पागल।’

‘अरे!...उनको तो पागल बिल्कुल मत कहो। उनकी वजह से ही तो...उनके चमत्कार की वजह से ही तो मेरा ईश्वर में विश्वास जगा है। मैं उसके वजूद को मानने लगा हूँ।’

‘चमत्कार?’

‘हाँ!...चमत्कार।’

‘तुम मुझे पूरी बात बताओ कि क्या हुआ था?’

‘अब मैंने स्कूटर को रोक तो लिया....

‘स्कूटर नहीं...स्कूटरी को।’

‘हाँ...जो मर्जी समझ लो।’

‘जो मर्जी समझ लो का क्या मतलब? स्कूटर...स्कूटर होता है और स्कूटरी...स्कूटरी होती है।’

‘बैटरी से चलती...ऊप्स सॉरी...चलता है तो क्या स्कूटरी हो गयी?’

‘बिलकुल....

‘ओके बाबा....अब मैंने स्कूटरी को रोक तो लिया मगर बाबा के डील डौल देख कर खुद असमंजस में पड़ गया कि कहीं...ये हम दोनों को ले के ही ना बैठ जाए।’

‘हम्म....मेरे दिल में तो सच्ची...सुन के ही हौल पड़ने लगा है कि...उस पिद्दी सी बेचारी के साथ इतना अत्याचार? खैर...फिर क्या हुआ?’

‘उनको बिठाने के बाद कायदे से तो ये होना

चाहिए था कि उसके इंजर पिंजर सब एकदम ढीले हो जाने चाहिए थे।’

‘किसके?...बाबा के?’

‘नहीं!...स्कूटरी के।’

‘नहीं हुए?’ (हैरानी का भाव।)

‘अरे!...यही तो कमाल है कि स्कूटरी एकदम टनाटन।’

‘और तुम? तुम भी ठीकठाक हो ना? दिखाओ...कहीं कोई गुम चोट वगैरह तो नहीं लगी?’

‘अरे!...मैं भी टनाटन...स्कूटरी भी एकदम टनाटन।’

‘ओह!...इसका मतलब बाबा तो गया काम से। चच्च...बेचारा।’ बीबी अफ़सोस जताते हुए बोली।

‘अरे!...उनको भी कुछ नहीं हुआ। एकदम सही सलामत हैं वो भी।’

‘पक्का ना? कहीं मेरा मन रखने के लिए झूठ तो नहीं बोल रहे हो?’

‘झूठ बोल के क्या मुझे पेड़े मिलने हैं?’

‘अच्छा...चलो छोड़ो...तुम मुझे बताओ की उसके बाद क्या हुआ?’

‘अब उनको बिठाने के बाद मेरा दिमाग घूमने लगा कि आज तो मीटर की सुई 18-20 से ऊपर तो बढ़ ही नहीं पाएगी।’

‘हम्म!...

‘लेकिन कमाल ये कि उनके बैठते ही स्कूटरी...’

‘टैं हो गयी?’

‘नहीं!...वो तो फरीटे भरने लगी? अविश्वास भरे चेहरे से देखते हुए बीबी बोली।’

‘हाँ!...फरीटे भरती हुई एकदम हवा से बातें करने लगी और सुई?...सुई का तो पूछो मत...वो तो 35-36 से नीचे एक सैकंड को भी नहीं हुई।’

‘.....क्या बात कर रहे हो? पक्का...तुम्हें वहम हुआ होगा।’

‘बोही...तो...मैंने भी एकदम यही सोचा और दो चार बार आँखें मिचमिचा कर भी देखा लेकिन सुई तो नीचे उतरने का नाम ही नहीं ले रही थी और कमाल ये कि बाबा के उतरते ही...

‘फिर वही ढाक के तीन पात?’

‘हाँ!...

क्या मतलब?...स्पीड फिर वापिस वही की वही?’

‘और नहीं तो क्या?’

‘ओह!...

‘बस...तभी मुझे विश्वास हो गया कि ज़रूर उनके पास कोई दैवीय शक्ति रही होगी या फिर बाबा खुद ही कहीं...ओह!...ओह...माय गॉड...वो तो सचमुच के भगवान ही थे। आज...आज उन्होंने मुझे साक्षात दर्शन दिए। ओह!...माय गॉड...मुझे तो विश्वास ही नहीं हो रहा।’ पति प्रफुल्लता के अतिरेक में हड़बड़ा कर चिल्लाता हुआ बोला।

‘एक मिनट...लैट मी थिंक...तुमने उन्हें कहाँ से लिपट दी थी?’

‘पंजाबी बाग से...क्यों?...क्या हुआ?’

‘और कहाँ तक दी थी?’

‘ज़्यादा दूर नहीं बस...आधे पौने किलोमीटर के बाद वो उतर गए थे।’

‘हम्म!...पंजाबी बाग में कहाँ?...एग्जैकट लोकेशन बताओ...ज़रूर उसके आसपास कोई मंदिर या मज़ार ज़रूर होनी चाहिए।’

‘पहले एक थी तो सही कई साल पहले लेकिन शायद जैसे कोई पंगा था तो उन्होंने तोड़ दिया उसको।’

‘ये तो खैर बड़ा ही ग़लत किया इन PWD वालों ने। कैसे...कितनी मुश्किल से कुछ ले दे के कब्ज़ा किया होगा बेचारों ने सड़क पे। अरे!...पहले भी तो ट्रैफिक थोड़ा घूमघाम के इधर उधर निकल ही जाता होगा लेकिन नहीं...इनको तो स्मूथ ट्रैफिक की आग लगी हुई है बेशक कोई मरे या जिए..इन कोई कोई फर्क नहीं पड़ता।’

‘हम्म!...

‘ज़रूर वहीं की भटकती कलपती कोई रूह होगी।’

‘ओह!...

‘चलो!...उठो...प्लीज़ मुझे अभी ले चलो वहाँ पर। मुझे भी दर्शन करने हैं उस दिव्य आत्मा के।’

‘लेकिन वो तो शायद कह रहे थे कि उन्हें वहाँ से बस मिल जाएगी झंडेवालान की।’

‘ओह!...तुमने उन्हें कहाँ पर छोड़ा था?’

‘पंजाबी बाग गोल चक्कर पर।’

‘और लिया कहाँ से था?’

‘पंजाबी बाग फ़ाईओवर के ऊपर से।’

‘.....क्या?’

‘हाँ!...वहीं से लिया था...फ़ाईओवर के ऊपर से ही।’

‘हे भगवान!...जाने कब अक्ल आएगी मेरे इस निखट्टू पति को।’

‘क्या हुआ?’

‘अरे!...बेवकूफ...फ़ाईओवर से जब कोई भी गाड़ी नीचे ढलान की तरफ उतरेगी तो उसकी स्पीड अपने आप नहीं बढ़ जाएगी।’ ओह!...शिट...ये तो मैंने सोचा ही नहीं लेकिन वो पुण्य आत्मा?



कविताएं

अभिलाष तिवारी

1. अनजान सफर में

जीवन की ऊहापोह में
चलते चलते
शामिल हो गए
एक अनजाने
सफर में
भीड़ के अथाह
समुद्र में
इन्द्रधनुष – सी
आकाशों लेकर
अपने अंदर ज्वार समेटे
विचारों को तज अपनी उलझन में
सब गढ़ते अपने सपने
अपरिचित होकर भी
मुस्कराहट परिचित
प्रारंभ होते संबोधन
अनिश्चित मिलन
और
तय बिछोह में भी
गढ़ते कितने रिश्ते
अनजान सफर में
चलते चलते

2. अनन्त से अंतस्थल तक

ललाट से
कपोल तक
लावण्यता का नर्तन
शुष्क अधर
मधुपर्क समेटे
आतिथ्य को उत्सुक
नेत्र ज्यों
अनन्तनाग के पर्वत पर
देदीप्यमान हों दीपक
कर्णपटल की अधीरता
षड्ज से निषाद तक उपजे
बिहाग के स्वर श्रवण करने को
हृदय को
विषाद की वेदना से
उल्लहास की प्रतिध्वनि तक
तिमिर में
प्रकाश में
अनंत से अंतस्थल तक
तुम ही दृष्टि गोचर
तुम ही प्रतिबिंबित

3. मानवता का संगीत

सूर्य की ऊष्मा से
तपती धरती
थोड़ी थोड़ी धूल की
झीनी चादर ओढ़े
अपने आँचल को निढाल छोड़े
एक आस की राह ताकती
अधूरे मिलन की बाट जोहती
ताप सहन कर
अपने तन पर
शुष्क कंठ से
निसदिन पुकारे
नयन पसारे
नीर निहारे
सूखे गिरते पत्ते
विरह वेदना से भरे
कहीं दूर
कोई
आकार ले रहा था
संचित कर रहा था

स्वयं को
बहते दरिया के नीर से
खारे समुद्र से
क्योंकि
कालगति बदलेगी
एक दिन अवश्य
समय चक्र गतिमान होगा
धरती आकाश
दूर क्षितिज पर
एक सुरमई सन्ध्या को
बैठेंगे
किसी पर्वत की चोटी पर
और गुनगुनायेंगे धुन
मानवता के संगीत की
उस दिन
छू लूँगा मैं तुम्हें
वीणा के तार पर
थि?रकती उँगलियों से

निवास - सी-305 अरिहन्त आर्डेन
सेक्टर - 1 ग्रेटर नोएडा वेस्ट
मेल - abhilash.bioviz@gmail.com
सम्पर्क - 9350139690



स्मृति के सरगम में राग अष्टम

सिद्धेश्वर सिंह

अष्टमी या श्रीकृष्ण जन्माष्टमी आज भी और कल भी। आज कल लगभग सारे त्योहार एकाधिक दिन के होने लगे हैं। हम जैसे और हमारे तमाम समानधर्मा उत्सव प्रेमियों के लिए यह एक तरह से अच्छा ही है। किसी समय यह पर्व हमारे लिए 'अष्टमी' या 'डोल धरना' हुआ करता था और एक दिन का नहीं, दो दिन नहीं पूरे सप्ताह भर का अहर्निश उत्सव हुआ करता था। भादों के महीने के कृष्ण पक्ष में जब बारिश की टिपिर - टिपिर झड़ी प्रायः लगी होती थी तब यह आनंद का एक साप्ताहिक उत्सव हमारे ग्रामीण जीवन में आमोद और उत्साह का रंग भरने का एक सुंदर समय हुआ करता था। पूरे टोले के घर - घर से रंग बिरंगी साड़ियाँ और चदरें मांगकर तथा अपने गाँव-गिराँव व निकटवर्ती कस्बे में उपलब्ध सामग्री से 'झुलना' सजाकर हम लोग अपनी 'अष्टमी' अपने तरीके से मनाते थे। हर घर से चंदा उगाहा जाता था जो आज की शब्दावली में 'कैश और काइंड' दोनों तरीकों से दिया-लिया जा सकता था। मुख्य उत्सव की रात में धनिया की पंजीरी के साथ आटे का चाँड़ा हुआ हलुआ प्रसाद के रूप में वितरित होता था। तब तक अपने गाँव में बिजली नहीं आई थी इसलिए 'गेस' या पेट्रोमैक्स (याद करें रेणु की प्रसिद्ध कहानी 'पंचलाइट' को) के प्रकाश में यह सब कार्यसंपन्न होता था। परंतु अब, इस समय और इस कोरोना काल के कलित समय में मैं भला आज के दिन यह सब क्यों याद कर रहा हूँ?

नून तेल लकड़ी के जुगाड़ में अब उस भूगोल से दूर हूँ जहाँ का किस्सा ऊपर बयान किया गया है। अब तो लगभग न जाने वाली बिजली की सुविधा है (यदि किसी कारणवश न हो तो छोटे-मोटे काम के लिए इनवर्टर बाबा की जय!), बिजली से चलने वाले छोटे-

बड़े उपकरण हैं। फिर भी अगर कभी कभार बिजली न हो तो लगता है कि ऊपर वाले का दिया हुआ तथा साँसों की गति -संगति पर चलायमान यह देह रूपी उपकरण भी किसी गोया किसी हुनरमंद मिस्त्री-मैकेनिक की माँग कर रहा है। अब कीचड़-कादों भरी हुई पिच-पिच करती गलियों की जगह अपने छोटे-से आशियाने के सामने खुली पक्की सड़क है। कुछ कदम आगे चलो तो राष्ट्रीय राजमार्ग है। कुछेक किलोमीटर दूर के मंझोले कद वाले कस्बे के हाट-बाजार में सामान दुकानों पर अँटा-भरा पड़ा है। आज के दिन घर के पास वाले मंदिर में खूब सजावट भी है। दिन भर के फलाहारदि के बाद अभी शाम को किचन में तरह-तरह के 'व्रती' पकवानों की तैयारी चल रही है जिनकी सोंधी गंध नथुनों के रास्ते हृदय में सहज ही प्रविष्ट हो रही है किन्तु मन का एक मृगछौना है जो कहीं वहीं उसी जगह व उसी कालखंड में लौत-लौट जाना चाहता है जहाँ पीतल के बड़े-से परात में धनिये की पंजीरी गमक रही है और एक बड़े से कड़ाहे में बन रहे चाँड़े हुए आटे के हलुए की सुवास वातावरण में शोभायमान है। पर, इस मन का क्या किया जाय और इस तन का भी जो अब एक तिहाई बरस से लगभग घर के अंदर ही कैद-सा है। यथार्थ तो यही है कि जो व्यतीत है वह वर्तमान में रूपायित नहीं हो सकता लेकिन 'दिल है कि मानता नहीं'।

अपने तई पहले सभी त्योहार व उत्सव सार्वजनिक हुआ करते थे जो कि अब लगभग सब व्यक्तिगत हैं। क्या अपन को इसीलिए बार-बार स्मृतियों के गलियारे में डोलना पड़ता है? क्या इसीलिए अतीत की उज्ज्वलता को वर्तमान के तमस-पट पर सिनेमाई करतब की तरह अवतरित होते हुए देखना-निरखना पड़ता है? कहीं पढ़ा था कि स्मृति इसीलिए स्मृति होती है कि वह वर्तमान से

दूर होती है। आज दिन भर कुछ न कुछ पढ़ता रहा, पत्रिकाओं-किताबों का ढेर लगा है फिर भी बहुत कुछ अनपढ़ा-अनदेखा रह रह जाता है, फिर भी कहीं बाहर से लौटने पर बैग की जिप खोलते ही किताबें-पत्रिकायें क्यों झाँकने लगती हैं? ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है कि समय की रील को रिवाइंड करके एक टाइम मशीन बना ली जाय और जब मन करे तब अतीत-व्यतीत में विचरण का निर्बाध आनंद लिया जाय। अगर ऐसा संभव है तो मेरी समझ से एक अदद टाइम मशीन भविष्य के भान के लिए भी अवश्य होनी चाहिए ताकि आने वाले कल की आहट को महसूस कर खुद को तैयार रखा जाय कि आगामी समय का संसार कैसा होने जा रहा है! लगता है कि विकास के लिए कुछ न कुछ की बलि जरूर देनी ही पड़ती है। जो कुछ शुभ, सुंदर और समेत लिए जाने लायक है वह सदैव उपस्थित नहीं रहने वाला है। काल की चाल बड़ी त्रिभंगी है; वह परिवर्तन के पंखों पर सवार होकर चलती है। खैर, मन प्रान्तर में कहीं रागात्मकता की गूँज-अनूँज अब भी शेष है और देह व दिमाग काठ के पुतले नहीं हो गए हैं तो आज के कठिन समय में यह कुछ कम तो नहीं ही है!

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के आसपास ही स्वाधीनता दिवस- 15 अगस्त भी पड़ता है। इस साल भी ऐसा ही होने जा रहा है। एक साथ दो-दो त्योहार! और अगर इनमें से कोई एक शनिवार को पड़ जाय तो अगले दिन इतवार की छुट्टी भी; मने कि तीसरा त्योहार! अष्टमी और स्वाधीनता दिवस ये दोनो ही मुझे त्योहार अतीत की तरफ खींचकर लिए चले जाते हैं। 15 अगस्त के दिन याद आने लगता है गाँव का वह टुटहा प्राइमरी स्कूल जिसकी छत उड़ गई थी और महुए के पेड़ के नीचे हमारी क्लास लगा करती थी- बारिश हो तो छुट्टी। उसी लगभग 'ओपन एयर स्कूल' में अपने राम ने ककहरा और गिनती सीखी। यह उसी स्कूल का पुण्य प्रताप है अब उसी सीख के बूते पर हासिल डिग्रियों का मान रखती हुई दुनिया प्रोफेसर के नाम से पुकारती है। उन दिनों के अपने स्कूल का 15 अगस्त यानि सादे कागज पर उकेरा गया और सरकंडे की डंडी में खोंसा गया तिरंगा, प्रभात फेरी, पीटी, लेजिम, खेलकूद, भाषण

और ..लड्डू ..साथ ही बाकी बचे हुए पूरे दिन की छुट्टी.. रेडियो पर देशभक्ति के गानों की बहार.. अगर बारिश हो गई तो 'बारी' (बगीचा) में 'बरगत्ता' (कबड्डी) का खेल..!

अब तो अपने आसपास सबकुछ लगभग 'इनडोर' है- खेल भी और खेल की स्मृति भी। एक तरह से सभी पर्व - त्योहार छुट्टी या अवकाश के पर्यायवाची - से हो गए हैं। त्योहारों का एक अर्थ शायद यह भी रह/हो गया है कि यादों की जुगाली कर ली जाय, नून तेल लकड़ी के जुगाड़ में जुते हुए देह और दिमाग को थोड़ी छुट्टी दी जाय, भीतर-बाहर की कलुषता व गर्द-गुबार को स्मृतियों के रूईदार फाहे से पोंछ दिया जाय। अपने आसपास की धुँधुआती हुई आग के बीच से राग की ऊष्मा को उलीचकर अंतस तक यथासम्भव उतार भी लिया जाय ताकि इस ठहरे हुए समय में कुछ भला-भला-सा लगे!

अभी तो दिन चढ़ रहा है। सूरज खिन्न बादलों के पीछे गुम है फिर भी अपनी उजास और ऊष्मा से वह सतत सर्वत्र उपस्थित है। दिन बीतेगा, शाम होगी और एक क्षण ऐसा भी आएगा जब धीरे-धीरे रात गहराएगी। अखबार-टीवी में 'एलर्ट' है कि अपने भूगोल में अगले तीन दिन तक भारी बारिश होने जा रही है। सम्भव है रात होने तक बारिश प्रकट भी हो जाय। तब अपने घोंसले में आराम से दुबक कर मैं यह कह सकूँगा कि बाहर बारिश है और अंदर भी। एक ओर पानी बरस रहा है और दूसरे ओर स्मृतियों की झड़ी से मन प्रान्तर भीग रहा है। सावन बीत गया। इस बार तो सावन भी पीने होने को सार्थक करता हुआ खूब बरसा। अब भादों का भी वही हाल है। जब रात होगी तो सब आवाजों के सो जाने पर बारिश के गिरने की आवाज अंदर कमरे तक चली आएगी और मैं त्योहार के बहाने बह आई यादों के समतल पर प्रकट तरावट को महसूस करते हुए डाक से आई किसी पत्रिका के पन्ने पलटते हुए या नेट की सतह पर सर्फिंग करते हुए सोने का उपक्रम करत दिखाई दूँगा। क्या ही अजब बात है कि अपनी ही देह को अपना ही मन असंख्य आंखों से देखता हुआ स्मृतियों के सरगम पर आठवें राग को सुनते-सुनते सो जाएगा और ऐसा सोचने में क्या जाता है कि अगर कोई सपना आएगा तो उसमें भले ही जंगल में मुदित होकर मंगल मानता मोर

न दिखे किंतु वह एक सतरंगा मोरपंख जरूर दिखाई देगा जो कभी श्रीकृष्ण के शीश की शोभा को और शोभायमान कर देता था।

तो, अभी, इस क्षण ठीक से याद नहीं आ रहा है कि यह किसकी कविता की पंक्ति है- 'अब सही जाती नहीं यह निर्दयी बरसात/खिड़की बन्द कर दो'! लेकिन क्या ईंट, गारे, सीमेंट, लोहा - लक्कड़ से बने मकान

मे लगी काठ की शीशेदार खिड़कियों के बन्द कर देने से स्मृतियों की यह 'निर्दयी बरसात' थम जाएगी? बाहर अब भी बारिश हो शुरू हो रही है - मद्धम, बाहर दिन है फिर भी अपेक्षाकृत रोशनी कम है - मद्धम और मन में स्मृतियों का राग बजना शुरू हो रहा है मद्धम - मद्धम-मद्धम!

संपर्क : ए- 03, आफिसर्स कालोनी, टनकपुर रोड,
अमाऊँ, पो0 - खटीमा ,
जिला - ऊधमसिंह नगर (उत्तराखंड) पिन - 262308
मोबाइल - 9412905632,
ई मेल: sidhshail@gmail.com



मृत्यु किनारे कलकल छलछल

रूपेश कुमार

जीवन को अपनी शर्तों पर जीना आसान नहीं होता है, इसके लिए कीमत चुकानी पड़ती है। समाज और परिस्थितियों का दबाव अंत तक बना रहता है, जिसे झेलने की क्षमता हर किसी में नहीं होती। यह एक साधना है, जिसमें साधक का मूल्यांकन उसके व्यक्तिगत जीवन के साथ सामाजिक योगदान को रखकर ही किया जा सकता है। सृजनात्मक लेखन, विभिन्न अनुशासनों का चिंतन एवं वैज्ञानिक खोज अति भौतिक जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापार और एकांतिकता के बीच आवागमन से ही संभव होता है। कुछ लेखक, दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों के बीच संतुलन साधने में अपनी उर्जा नष्ट करते हैं और उसमें सफल-असफल रहते हैं लेकिन अधिकतर इसकी परवाह नहीं करते हैं। दूधनाथ जी दूसरे किस्म के हिंदी साहित्य के लेखक थे, पत्नी घर में बीमार रहने लगी थी लेकिन जब उन्हें वर्धा विश्वविद्यालय में अतिथि लेखक के लिए आमंत्रित किया गया तो वे तत्काल चले गये, जैसे वह घर से निकल भागने का अवसर खोज रहे थे। घर में जैसा माहौल बन गया था उसमें लिखना पढ़ना कुछ भी संभव नहीं हो पा रहा था। वे अपने बचे हुए जीवन को स्वाभाविक अंदाज में जीने के साथ पूरी तरह लेखन को समर्पित करना चाहते थे। वर्धा में उन्हें उर्जा से भरपूर ताजगी का माहौल मिला, जहाँ उन्होंने 78 वर्ष की उम्र में 85 प्रेम कवितों लिखीं, जिनमें 71 का चयन कर 'तुम्हारे लिए' नाम से प्रकाशित करने के लिए राजकमल प्रकाशन को दिया और वह संग्रह वर्ष 2014 में प्रकाशित हुआ। कुछ लोग कहते हैं कि वर्धा में वे किसी स्त्री से प्रेम के चक्कर में भी पड़े लेकिन क्या सच-मुच प्रेम इतना सतही चीज है जिसे कहीं भी और कभी भी किया जा सकता है? जो दूधनाथ जी पर बार-बार आरोपित किया जाता रहा है।

वर्धा प्रवास ने दूधनाथ जी के भीतर जीने का एक नया उत्साह पैदा किया, इसका प्रमाण उनके द्वारा लिखी गई प्रेम कविताएँ हैं, जिसके संबंध में वे लिखते

हैं- 'ये कविताएँ बीते जुलाई-अगस्त में लिखीं गयीं- एक 'अवसेरि' (अवस्मृति) की स्थिति में, जब देवी साधक के भीतर उतरती है और वह 'खेलने' लगता है। तब वह, वह नहीं होता जो वास्तव में होता है। तब वह साधना के सम्मोहन में होता है। 'अवसेरि' कबीर का शब्द है। यह एक प्रकार का अति भौतिक विमोह है। सारी कलाएँ इसी अवस्मृति, ऐसी ही सम्मोहित अवस्था की उपज होती हैं। फिर...उसके बाद? जब हम देवी के 'थान' पर सिजदा लेते हैं, मत्था टेकते हैं, तो उस अवस्मृति, उस सम्मोहित अवस्था से विदा लेते हैं। तब हमारा इति-अधि का भौतिक संसार शुरू होता है। थके मांड़े, निढाल हम इस दुनिया में लौटते हैं, जो नीरस, शुष्क, बार-बार फेंटी गयी, निरर्थक, लेकिन जीने के लिए बेहद जरूरी होती है।' ('तुम्हारे लिए' संग्रह की एक बात से) महात्मा गांधी और विनोबा भावे की कर्मभूमि में फ़ैली शान्ति, दूधनाथ जी को 'अवसेरि' की अवस्था में ले गई जहाँ मृत्यु के अंतिम छोर पर पहुँचकर जीने की इच्छा बलवती हो जाती है-

नई अहोनी फिर सुन पड़े
असूनी- इस धरती माता को
मृत्यु किनारे कलकल-छलछल
शान्त नींद में प्रथम जन्म के
पुनर्जन्म की वह मुस्काहट लौटे
और तुम कहो यह तो हँसता है

भरा पूरा जीवन जी लेने के बाद एक और जीवन जीने की लालसा उसी में होती है जिसका इस दुनिया से अटूट लगाव होता है। नया जीवन माँ ही दे सकती है इसलिए रचनाकार उसको और साथ ही धरती माता को याद करता है, जो उसके जीवन को विस्तार देती है। लेखक की एक मासूम कल्पना है कि इधर मरे और उधर फिर जन्म ले ले और उसके जीवन की निरंतरता बनी रहे। लेकिन जितना जीवन सत्य है उतना मृत्यु भी है इसीलिए इन कविताओं में यदि जीवन से प्रेम है तो मृत्यु

से सहज लगाव भी है। 'जब मैं हार गया सब कुछ करके'
शीर्षक कविता में इसकी सटीक अभिव्यक्ति हुई है-

मैं हूँ तुम्हारा सदियों का वह बूढ़ा अश्व
जिसकी पीठ पर ढेर सारी मक्खियाँ
टूटी हुई नाल से खूँदता
सूना रणस्थल
लो, अब संभालो
अपनी रणभेरी
मैं जाता हूँ।

इस संसार में जीवन निर्वाह किसी युद्ध से कम नहीं है। हार-जीत के बीच सुख-दुःख की अनुभूति करते हुए व्यक्ति एक समय जर्जर अवस्था में पहुँच जाता है और अंत में मृत्यु को प्राप्त होता है। पुरानी पीढ़ी की जगह नई पीढ़ी लेती है और यह क्रम निरंतर चलता रहता है। कविता में रचनाकार जीवन के अंतिम छोर पर पहुंचकर आत्म-मूल्यांकन करता है और अपनी विरासत नई पीढ़ी को सौंपते हुए मृत्यु की तैयारी उतनी ही शिद्दत से करता है जितने उत्साह से उसने जीवन को जिया।

दूधनाथ जी की कविताओं में स्त्री कई तरह से उपस्थित होती है। वह अगर माँ है तो प्रेमिका भी है। सामान्य प्रेमिका को संदर्भित कई कविताएं स्मृति में लिखी गई हैं तो कई को पढ़कर उसके वर्तमान होने का भ्रम होता है। जैसे एक कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं-
हमदोनों हैं साँप-सपोले/ इस विदर्भ के घने दर्भ में/
अनजाने ही डोल रहे हैं। इसी तरह एक और कविता है-

अभी तुम हो रास्ते में
अभी तुम हो धाम नदी के उस पार
अभी तुम पवनार में हो
वृद्ध-जर्जर साध्वियों के संग
अभी तुम हो प्रार्थना की व्यर्थता में
अभी तुम बापू कुटी में
अभी तुम शान्ति के स्तूप के
उस गोल घेरे में
अभी तुम हो नाशवान शरीर-मंदिर में
अभी तुम हो फूल
जिसमें शूल-सा मैं चुभ रहा हूँ।

इन कविताओं में आये विदर्भ स्थित वर्धा के प्रसिद्ध स्थलों, धाम नदी, पवनार, शांति स्तूप, बापू कुटी, केवल जगहों के नाम नहीं हैं बल्कि ये समता,

प्रेम, शान्ति और सद्भाव के प्रतीक हैं, जहाँ दुनिया भर से लोग घूमने आते हैं। दूधनाथ जी वर्धा प्रवास के दौरान इन जगहों पर अक्सर जाते और वहाँ घंटों समय बिताते थे लेकिन विनोबा भावे, महात्मा गांधी और फ्यूजी गुरुजी ने दुनिया को बदलने का जो रास्ता दिखाया उसमें उनका विश्वास नहीं था, इसलिए प्रेमिका के माध्यम से वे इसकी व्यर्थता को प्रकट करते हैं। कवि को तो प्रेम का यथार्थ धरातल और क्रांति ही प्रिय है।

हमारे समाज में अगर संबंध सुनिश्चित हैं तो आयु के अनुसार उसकी भूमिकाएँ भी तय हैं। सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम को भारतीय समाज युवा अवस्था में ही स्वीकारोक्ति देता है, किन्तु दूधनाथ सिंह प्रेम करने की कोई उम्र नहीं मानते हैं। समाज के अपने अनुशासन होते हैं और रचनाकार उनको तोड़ता है, इस प्रक्रिया में कई बार वह खुद भी टूट जाता है लेकिन नई पीढ़ी को एक रास्ता दिखा देता है। 'साँझ हो रही थी' कविता में कुछ इसी तरह के भाव प्रकट हुए हैं-

साँझ हो रही थी
जब मैं चला तुम्हारी ओर
अंधे की तरह, तुम्हें
टटोलता हुआ।
लोगों की नजर थी मुझ पर
कोई दौड़ा- 'बाबा उधर नहीं
इधर'
जिधर तुम नहीं थीं
मृत्यु का तट था।

प्रेम व्यक्ति को जीवन देता है और उससे अलगाव उसे मृत्यु की ओर ले जाती है। यह भाव एक रचनाकार से बेहतर और कौन समझ सकता है? दूधनाथ सिंह ने प्रेम को जीवन का पर्याय माना और अपना जीवन खुलकर जिया, उन्होंने सामाजिक बंधनों और खोखली नैतिकता को कभी नहीं ढोया, बनावटी जीवन वालों का हमेशा मजाक उड़ाया। प्रेम के नैतिक और अनैतिक बँटवारे के भी वे खिलाफ नजर आते हैं। 'मुझे' कविता में वे नैतिकता का दिखावा करने वाले लोगों के बारे में लिखते हैं-

अपनी महत्ता की दमक में रहो
जो दिन शेष हैं
सुखी और अपूर्ण

दर्शन देते हुए
 नैतिकता के स्वांग
 में मुस्कराओ
 धिरे हुए
 चीरे हुए
 बस याद करो कभी-कभी
 उसको जो
 था।

इस कविता में ऐसे लोगों की आलोचना है जो अहम् के कारण प्रेम से दूर हो जाते हैं। रचनाकार का मानना है कि प्रेम से रहित झूठी महत्ता और दिखावा करने वाले मनुष्य सुखी होने का ढोंग करते हुए अपूर्ण जीवन जीते हैं। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में प्रेम करने का अवसर आता है, वह चाहे तो उसे अभिव्यक्त या स्वीकार कर उसकी निरंतरता में जिये अथवा कोरी नैतिकता और सामाजिक बंदिशों का वरण करके बेजान और नीरस जीवन को आत्मसात करे। वे लोग जो नैतिकता के कारण प्रेम को छोड़ देते हैं, भीतर से सुख का अनुभव नहीं करते हैं बल्कि कभी जीवन में आये प्रेम के उन क्षणों को यादकर अतीत-जीवी बने रहते हैं।

संग्रह की कुछ कविताएँ ऐसी हैं जैसी रचनाकार युवा अवस्था में या अपनी प्रारंभिक रचनाओं में लिखते हैं। जीवन के अंतिम पड़ाव की कविताओं में सामाजिक, दार्शनिक चिंतन ज्यादा होता है लेकिन दूधनाथ जी के साथ उल्टा है, उनके पहले काव्य संग्रह 'अपनी शताब्दी के नाम' में संकलित कविताएँ चिंतन के स्तर पर इन कविताओं से कहीं अधिक गंभीर हैं। इन प्रेम कविताओं में दार्शनिक चिंतन से अधिक शब्दों और पंक्तियों के बीच भावों की सघनता है। कई कविताएँ तो ऊपर से देखने में बाल कविताएँ लगती हैं लेकिन उनके भीतर गहरे अर्थ छुपे हैं, जैसे 'चुन्नी तुम कहाँ गई' कविता जिसे उन्होंने अपनी पोती को समर्पित किया है-

चुन्नी, तुम कहाँ गई
 चुन्नी, तुम कहाँ गई!

 बाबा, खिला लेंगे
 बाबा, सुला लेंगे।
 पापा फिर आयेंगे झख मार
 मम्मी फिर आयेंगी
 मुँह का गुब्बारा फुलाए हुए।

.....
 बाबा, मैं आती हूँ
 जल्दी से बड़ी हो जाती हूँ।
 बाबा, तुम मरना मत
 पापा से डरना मत।

दूधनाथ जी एक ऐसे रचनाकार हैं जिनकी कृतियों में उनके आस-पास के जीवन की कुछ न कुछ झलक दिखाई पड़ ही जाती है। यह कविता भी उनके पारिवारिक संबंधों के बारे में बहुत कुछ कहती है। जो लोग उनसे जुड़े थे वे जानते हैं कि जीवन के अंतिम कुछ सालों में दूधनाथ जी का अपने बच्चों से संबंध औपचारिक रह गये थे लेकिन पोते पोतियों से वे बेहद प्रेम करते थे। इस कविता में उनके वही भाव प्रकट हुए हैं। वे वर्धा घर पर बीमार पत्नी को छोड़कर गये थे, जाने से पूर्व उन्होंने अपने बेटे बेटियों को फोन किया कि उनसे निर्मला की सेवा नहीं हो पा रही है इसलिए वे उसे अपने साथ रख लें लेकिन इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ। एक भरा पूरा परिवार होते हुए भी वर्धा का कार्यकाल पूरा कर दूधनाथ जी के इलाहाबाद लौटने तक निर्मला ठाकुर नौकरानियों और विवेक के भरोसे रहीं और 20 नवंबर 2014 को उनकी मृत्यु हो गई।

'तुम्हारे लिए' संग्रह की एक कविता दूधनाथ जी ने 'एक विद्रोहिणी लड़की' को समर्पित की है, जिसका शीर्षक है 'सोनू जिज्जी अच्छी-अच्छी'। ये कविता भी बाल कविता जैसी ही है, लेकिन इसमें बड़ा संदेश है। आज समाज में जहाँ विरोध और प्रतिकार का तरीका आक्रामक और हिंसक होता जा रहा है वहीं इस कविता में सहज और मजबूत इरादों की लड़की का चित्रण है, जो पितृ-प्रधान समाज व्यवस्था को बड़ी शालीनता से अस्वीकार करती है-

सोनू जिज्जी बोल पड़ी है
 अपने पैरों आन खड़ी है
 मैं सुख-दुख को नहीं जानती
 मैं दुनिया को नहीं ध्यानती।
 उसमें सब गड़बड़ झाला है
 औरत को विष का प्याला है
 विष पीने को नहीं बनी मैं
 दुख जीने को नहीं बनी मैं।

सामान्य दिखने वाले जीवन में यह प्रतिकार वही

कर सकता है जिसके सिद्धांत और व्यवहार में कोई फाँक न हो। इसके लिए कठोर निर्णय और उस पर चलने के लिए कदम-कदम पर संघर्ष करना पड़ता है। दूधनाथ जी ने इस तरह का जीवन जीते हुए जिस लड़की को देखा उसे आसानी से पहचाना जा सकता है। यह उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी कमजोरी भी है और ताकत भी, कमजोरी इसलिए कि उसका विस्तृत अर्थबोध नहीं होता है और ताकत यह कि ऐसी रचनाएँ प्रकाशित होते ही पाठकों के बीच लोकप्रिय हो जाती हैं। ऐसा लगता है कि दूधनाथ जी इस तरह की जो कुछ रचनाएँ की हैं, उनमें पात्रों के पहचान का संकेत वे जानबूझकर छोड़ते हैं, जिससे ऐसे आलोचकों को आकर्षित कर सकें जो उनको चर्चा परिचर्चा के केंद्र में लाएँ और वो साहित्य के 'सेलीब्रेटी' बने रहें। क्योंकि दूधनाथ सिंह जैसे मंजे लेखक के बारे में यह कहना अनुचित होगा कि पात्रों की पहचान छुपाकर लेखन करने की क्षमता उनके पास नहीं थी। इस कविता के वास्तविक चरित्र को भी दूधनाथ जी के आलोचक खोज सकते हैं और वह मिल भी जायेगी, लेकिन क्या यह रचना का सही मूल्यांकन होगा? और ऐसी खोज और आलोचना से साहित्य का कितना भला होगा। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि वह कौन है? जिससे प्रेरित होकर दूधनाथ जी ने यह कविता लिखी, महत्वपूर्ण यह है कि स्त्री प्रतिरोध और संघर्ष का एक रास्ता यह भी है।

'तुम्हारे लिए' संग्रह की एक कविता दूधनाथ जी ने 'निराला को याद करते हुए' उन्हें और एक 'विनोद कुमार शुक्ल के दाम्पत्य' को समर्पित किया है। निराला दूधनाथ जी के प्रिय कवि थे, उन्हें याद करना कोई नई बात नहीं है लेकिन विनोद कुमार शुक्ल के दाम्पत्य को समर्पित कविता इसलिए लिख सके क्योंकि नागार्जुन सराय में रहते हुए उन्होंने पति-पत्नी के संबंध को करीब से देखा। शुक्ल जी का स्वभाव उस समय वर्धा विश्वविद्यालय के नागार्जुन सराय में रहने वाले दोनों अतिथि लेखकों-दूधनाथ जी और ऋतुराज जी से भिन्न था। दूधनाथ सिंह अपनी एक पत्नी को पहले ही छोड़ चुके थे और एक को बीमारी की हालत में घर छोड़कर आये थे और ऋतुराज जी की पत्नी वर्धा घूमने के लिए बीच-बीच में आती रहीं जबकि विनोद कुमार शुक्ल जी हमेशा पत्नी के साथ रहे। घर जाते तो वो पत्नी को लेकर जाते और वापस लौटते तब भी वे साथ होतीं, कैम्पस में भी कहीं

घूमते तो पत्नी साये की तरह लगी रहतीं। ऐसा दाम्पत्य अराजक जीवन जीने वाले दूधनाथ जी की कल्पना से परे था लेकिन इसे वह वास्तविक जीवन में देख रहे थे इसलिए खीझकर उन्होंने व्यंगपूर्ण कविता लिखी।

तुम पूरब की ओर देख रही हो
मैं भी पूरब की ओर देखता हूँ

.....
तुम्हारी कमर में दर्द है?

मुझे भी होने लगा।

तुम गर्भवती हो?

काश, मैं भी हो जाऊँ....

अरे तुम छत ताकती हो?

मेरा चश्मा दो मैं भी ताकूँगा।

क्या वहाँ मकड़ी का जाला है
मैं भी फसूँगा।

.....
सुनो, कुछ काम अकेले भी होते हैं
पता नहीं....
होते हैं।

हिंदी साहित्य में आलोचना के माध्यम से व्यक्तिगत जीवन को घसीटकर रचनाकारों की छवियों को बनाने और बिगाड़ने का काम खूब हुआ है, किन्तु सृजनात्मक लेखन में ऐसा कम ही दिखाई पड़ता है। दूधनाथ जी ने इस कविता को लिखकर वही कार्य किया है, इसके लिए उनके व्यक्तिगत और वैचारिक मतभेद के साथ जीवन को देखने की अलग दृष्टि रही है, जिसकी कसौटी पर उन्होंने विनोद कुमार शुक्ल के दाम्पत्य को कसा है।

दूधनाथ जी का व्यक्तित्व जितना जटिल था 'तुम्हारे लिए' संग्रह की कविताएँ उतनी ही सीधी, सरल और सपाट हैं, जिनमें सतरंगी प्रेम के सघन भावों की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति हुई है। यह प्रेम कविताओं से ज्यादा प्रेम के खोज की कविताएँ लगती हैं, जिसमें रचनाकार अतीत, वर्तमान, जीवन और मृत्यु सभी जगह विचरण करता है।

हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
महाराष्ट्र (वर्धा), Mob.no-9404549085,
E-Mail:dr.roopeshsingh@gmail.com



‘गाँधीजी, भारत का नमन’

विनोद नायक

प्रिय बापू,

आपको कोटिशः नमन।

मैं आपको कैसे भूल सकता हूँ ? शायद आप भी नहीं भूले होंगे। मेरे पैरों में जकड़ी जंजीरें , पीठ पर खाये अनगिनत कोढ़े , मुँह से निकला खून और न जाने कितने असहनीय दर्द ? मेरे हर दर्द को आपने महसूस किया है और दर्द को मिटाने के लिए आपने हर संभव प्रयास किये।

गाँधीजी , वो वक़्त आज मेरी आँखों के सामने झूलता है। जब नौजवानों के सीने गोलियों से छलनी किये जा रहे थे। धन-दौलत की लूट के साथ बहनों की अस्मिता लूटी जा रही थी। बच्चों को जिंदा दफनाया जा रहा था। हमारे बुजुर्गों को आजीवन बंदी बनाकर काम लिया जा रहा था। और तो और तब हमारी रूह काँप जाती थी। जब हमारे नौजवानों के सिर काट कर हमें सौंपे जाते थे। नन्हीं कन्याओं से दुराचार कर पैरों तले कुचला जाता था। दम न बचा था कि कोई भारत माता की जय कहे, वंदेमातरम के नारे लगा सके या इंकलाब जिंदाबाद कहे सके।

भुखमरी, गरीबी व कुपोषण से लोगों की जानें जा रही थीं। रोटी के नाम पर डण्डे व पानी के नाम पर आँसू पी- खाकर अपने प्राण बचाने को मजबूर थे। गाँधीजी ये तो मैंने कुछ नहीं व्यक्त किया। कई वर्षों तक गुलामी ही नहीं असहनीय दर्द को सहा है। उनके निशान आज तक मौजूद हैं।

गाँधीजी, सच में हमारी आने वाली पीढ़ी शायद ही विश्वास कर पायेगी कि - एक दुबली-पतली काया वाला इंसान अर्थात हांड-मांस सा दिखने वाला व्यक्ति,

अप्रैल, 2021 - एक

भारतीयों में नवीन प्राण फूँक देगा। फिरंगियों को भारत छोड़ने को मजबूर कर देगा या फिर भारत को आजाद करा देगा।

गाँधीजी, नई पीढ़ी को विश्वास करना ही होगा क्योंकि- आज आपकी किरणों से विश्व सत्य और अहिंसा के महामंत्र से प्रकाश पाकर बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान प्राप्त कर रहा है।

जब अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप विश्व मंच से कहते हैं कि - हमें गाँधीजी के मार्ग पर चलकर शांति प्राप्त होगी। यही नहीं जब देश के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी कहते हैं कि - मैं गाँधीजी के पथ पर चल रहा हूँ। और देश को गाँधीजी के सपनों का देश बनाना चाहता हूँ तब अवश्य नई पीढ़ी आपको जानने के लिए उत्सुक होगी।

गाँधीजी, आपके विचारों से विश्व प्रगति पथ पर अग्रसर हो रहा है। उन्नति के शिखर को छू रहा है। आपके सिद्धान्तों से कदम से कदम मिलाकर विश्व के अनसुलझे रहस्यों को सुलझा रहा है। लेकिन बात यही आती है कि - ये हाड़-मांस के मानव में ऐसा क्या था? कितनों के मन में ये प्रश्न है? किसी को उत्तर मिल गया तो कुछ लोग अभी भी उत्तर तलाश रहे हैं। मैं उन सबको कागज़ व कलम के माध्यम से बताना चाहता हूँ कि - गाँधीजी कभी न डूबने वाला सूर्य है जो विश्व को सदैव अपने सद्गुणों से प्रकाशित करते रहेंगे।

गाँधीजी, मुझे याद आता है आपका बचपन जब नन्हा मनु, अपनी माँ पुतलीबाई का आँचल थामें, मंदिर में प्रवेश कर, नरसी मेहता के भजन ‘वैष्णव जन तो तेने कहिए रे पीर पराई जाणे रे।’ में खो जाता था। और घर आकर माँ से पूछता था - ‘माँ, ऊका भैया को लोग क्यों

नहीं छूते? क्यों लोग उनसे शौच साफ करवाते हैं?, क्यों लोग उनसे घृणा करते हैं? जब सब हरि के जन हैं तो ऐसा भेदभाव क्यों?’

यही नहीं मनु के मन मस्तिष्क पर उस समय गहरा प्रभाव पड़ा जब माँ के साथ राजा हरिश्चन्द्र नाटक देख कर सत्य निष्ठा की प्रेरणा लेकर पूरा जीवन सत्य - अहिंसा से जीने की प्रतिज्ञा कर ली। पूरी दुनिया को बताया कि - नन्हा मनु से लेकर महात्मा तक कैसे सत्य-अहिंसा का पालन कर, माता-पिता, समाज व देश की सेवा कर सकता है।

गाँधीजी, आपने ही बताया कि - सत्य यह है कि- ईश्वर है। लेकिन हमें अपना कर्म तो सत्य निष्ठा से ही करना होगा। तभी लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

गाँधीजी, यही नहीं उस समय अपने अध्यापक का मन जीत लिया था। जब शाला निरीक्षण के दौरान आपको परीक्षा में कुछ शब्द लिखने को दिये थे और अध्यापक आपको इशारे से स्पेलिंग सही बताने का प्रयास कर रहे थे लेकिन आप थे कि गलत शब्द लिख कर बैठे थे। फिर आपको बार-बार बताने पर भी आपने नकल नहीं की तो आपके अध्यापक परीक्षा के बाद आपके व्यवहार से अत्यधिक प्रभावित और खुश हुए थे।

गाँधीजी, आपने माँ के मन के अंदर बैठे भय को भी उस समय दूर कर दिया था। जब माँ के सामने सौगन्ध ली थी कि - मैं विदेश अवश्य जा रहा हूँ माँ , लेकिन तू जिस बात से डर रही है, मैं सौगन्ध लेता हूँ - मैं, मांस-मंदिरा का कभी सेवन नहीं करूँगा। चोरी, झूठ व बेईमानी से सदा बचूँगा। माँ को दी सौगन्ध का आपने सदा पालन किया।

स्वालंबन का पाठ आप से अच्छा भला कौन सिखा सकता है। शिक्षा के दौरान अपना काम स्वयं करना। कपड़े धोना, प्रेस करना, साफ-सफाई, झाड़ू आदि लगाना आप स्वयं ही करते थे।

यही नहीं आप ने अपने आश्रम के नियमों के मुताबिक अपनी पत्नी कस्तूरबाजी को भी कड़े शब्दों में कह दिया था कि- अगर आश्रम में रहना है तो अपनी शौचालय स्वयं को ही साफ करनी होगी वरना आश्रम

छोड़ सकती हो। यहाँ रहने वाले सभी लोगों के साथ यही नियम है। बा ने आपसे कहा था कि - मैं आपकी पत्नी हूँ। तब आपने कहा था - तब तो और भी आवश्यक हो जाता है। तब बा ने कहा था कि - लेकिन ये काम तो नीची जाति का है। आपने मुस्कुराकर कहा था - कोई काम ऊँचा या नीचा नहीं होता। काम तो काम होता है। अपना काम स्वयं करना चाहिए अगर नहीं कर सकती हो तो तुम आश्रम छोड़ सकती हो। बा को आखिर स्वीकारना ही पड़ा।

गाँधीजी आप स्वयं प्रातःकाल जागकर , व्यायाम करना, साफ-सफाई करना, कपड़े धोना, कई किलोमीटर पैदल यात्रा करना, स्वयं की मालिश करना, स्वअध्ययन, चिंतन-मनन व आध्यात्म को समझने का काम नित्य करते थे। साथ ही साथ सभी काम निश्चित समय पर।

गाँधीजी इसी बात से मुझे वो घटना याद आती है। जब एक महिला अपने बच्चे को साथ में लेकर आपके आश्रम आई थी। आपके चरण छू कर कहा था- बापू, ये मेरा बेटा है। बहुत गुड़ खाता है। आप इसके गुड़ खाने की आदत छुड़वा दीजिए। आप ने हाथ जोड़ कर कहा था - एक माह बाद आना।

जब वो महिला एक माह बाद आई तो आपने कहा - तीन माह बाद आना। जब वो महिला तीन माह बाद आई तो आपने कहा - कहिये क्या बात है ?

महिला ने फिर वही समस्या दौहराते हुए कहा - ये गुड़ खाना नहीं छोड़ता।

गाँधीजी आपने कहा - जब मुझे गुड़ खाने की आदत छोड़ने में चार माह लग गये फिर तो ये छोटा बच्चा है। ये इतनी जल्दी कैसे छोड़ सकता है ? और जब मैं खुद गुड़ अधिक खाता हूँ तब मैं दूसरे को गुड़ खाने से कैसे मना कर सकता हूँ? लेकिन अब मैंने गुड़ खाना छोड़ दिया है। बेटा, तुम भी आज से गुड़ खाना छोड़ दो।

आपकी बात सुनकर बच्चा समझ गया। उसने भी गुड़ खाना छोड़ दिया।

गाँधीजी, आपने देश को आजाद करने के लिए

भारत के जन-जन को जोड़ा। लोगों में आजादी के प्रति अपना सब कुछ झौंक देने की बात कही। लेकिन जब एक किसान के खेत में आप गये तो किसान खेत में फसल को पानी दे रहा था। कीचड़ में सने पैरों के ऊपर एक घुटने तक की छोटी-सी धोती लपेटे व तन पर कुछ न था। वह आपके पास आकर प्रणाम किया तो आपने बोला - देश आजाद कराने में आपका सहयोग चाहिए। तब किसान ने हाथ जोड़ कर कहा - गाँधीजी मैं तो सहयोग करूँगा, लेकिन आप इन सूट -बूट में देश आजाद नहीं करा सकते। अगर देश को आजाद कराना है तो किसानों के मन को समझो।

गाँधीजी, आपने उसी पल सौगन्ध ली कि - मैं जब तक पूरे भारतवासियों के तन पर वस्त्र न ढक दूँ। तब तक मैं आपके वेश में ही रहूँगा और आपने उसी पल अपने वस्त्र त्याग कर एक धोती जीवन भर के लिए धारण कर ली।

गाँधीजी, आपने देशवासियों का मन ऐसा जीता कि - आपके लम्बे -लम्बे कदमों के पीछे हजारों कदम दौड़ते थे। विदेशी कपड़ों की होली हो या फिर नमक कर कानून भंग करना, असहयोग आंदोलन हो या फिर पूर्ण स्वराज की माँग, गली - मोहल्ला व सड़कों पर देशभक्तों का हुजूम उमड़ जाता था। यह आपकी असाधारण शक्ति का ही परिणाम था आपने सदा देशहित में निर्णय लिए, जिसके कारण अनेकों बार जेल जाना पड़ा। कई तरह की यातनों झेली लेकिन हार कभी न मानी। आप जिस पथ से गुजरे, आपके पीछे भारी जनसैलाब ही नहीं अपितु विद्वान् देशभक्त गोपालकृष्ण गोखले, वीरसावरकर, सुभाषचन्द्रबोस, लाला लाजपत राय, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह, सुखदेव, रामप्रसाद विस्मिल, मौलाना अबुल कलाम आजाद, मोतीलाल

नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, ऐनीबीसेंट और न जाने कितनी हस्तियों ने अपने प्राण मातृभूमि को अर्पण कर दिये। इन नेताओं ने आपके नियमों और सिद्धान्तों को हृदय से गले लगाया और देश को आजाद करने में अपना सब कुछ अर्पित कर दिया।

गाँधीजी, अब मैं अपने मुद्दे पर आऊँ, मैं अभी तक अपने व्यक्तिगत विकास में लगा रहा। इसलिए आपको याद न कर सका। वैसे भी जब व्यक्ति सुखी होता है तब वह कम ही याद करता है। लेकिन आपको आपको जानकर आनंद अनुभव होगा कि - मैंने बहुत विकास कर लिया है। देश में बिजली, पानी, रोटी, कपड़ा, शिक्षा व मकान जन -जन तक पहुँच रहे हैं। पक्की सड़कें व रेल व रेल सुविधों बढ़ गई हैं। सैनिक व किसानों को बढावा व आत्मविश्वास मिल रहा है। लोग रोजगार पाकर खुश हैं। और तो और धारा 370 व 35 जम्मू-कश्मीर से हटाकर अखंड भारत का स्वप्न साकार हो गया है। जन - जन स्वच्छ भारत के लिए अपना तन-मन-धन से योगदान दे रहा है। प्लास्टिक मुक्त व गंदगी मुक्त राष्ट्र बनाया जा रहा है। गाँव - गाँव तक शौचालय का निर्माण हो गया है। महिलाओं व बच्चों को विशेष अधिकार मिल रहे हैं। मैं इन सब कार्यों से अति उत्साहित व प्रसन्न हूँ और फल-फूल कर विश्व को अपनी शक्ति देकर ऊर्जावान व उन्नत बनाना चाहता हूँ। इन्हीं शब्दों के साथ, मैं भारत, गाँधीजी आपको शत्-शत् नमन करता हूँ।

77-ब, श्री हनुमानजी मंदिर के पास,
खरबी रोड़, शक्तिमातानगर, नागपुर-24
मोबाईल नं. 8605651583



समीक्षा यूँ बनी महाभारत (नाटक)/प्रताप सहगल व्यवस्था की मूढ़ता पर कशाघात

सुशील सिद्धार्थ

प्रताप सहगल ने साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी रचनाशीलता की छाप छोड़ी है। वे संवेदना और संरचना के धनी लेखक हैं। अध्ययन ने उनको सोच के विकल्प दिए हैं। शब्द और समाज के प्रति आत्मीयता ने उनको अनवरत ऊर्जावान रखा है।

मुझे प्रताप सहगल मूलतः रंगलेखक लगते हैं। कविता और कथासाहित्य में वे जिस तरह के दृश्य सादृश्य बनाते हैं उससे उनकी अभिरुचि की खबर मिलती है। जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश को पढ़ते हुए भी मैं इसी परिणाम तक पहुंचा हूँ। बल्कि मेरा ऐसा मत है कि जीवन जगत की विराट लीला को शब्दबद्ध करने वाला रचनाकार रंगकर्म के मूल तत्वों से जाने अनजाने वाकिफ़ होता ही है। प्रताप सहगल तो सचेत भाव के नाट्यलेखक हैं। नाटक के क्षेत्र में उन्होंने स्मरणीय काम किया है। नाट्यलेखन और नाट्यालोचन में उनका काम सराहा जाता है। अन्वेषक, मौत क्यों रात भर नहीं आती, चार रूपांत आदि से उनकी क्षमता का आकलन किया जा सकता है। उन्होंने कुछ विदेशी नाटकों का अनुवाद करने के साथ बालोपयोगी नाटक भी लिखे हैं। यह सब उन्होंने तब किया जब एक बहुप्रचलित प्रपंच है कि हिंदी में मौलिक नाट्यालेखन की कमी है। निर्देशक जाने किस ईश्वर से ऐसे निर्देश लेते रहते हैं।

‘यूँ बनी महाभारत’ प्रताप सहगल का एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। यह एक पूर्णकालिक नाटक है। सुलिखित, सुसंपादित, सुनियोजित। यह एक व्यंग्य नाटक है।

यूँ तो व्यंग्य एक तत्व है जो किसी भी विधा में अपने उचित अनुपात के साथ शामिल हो जाता है/सकता है। लेकिन जब रचना की प्रकृति और संरचना व्यंग्यात्मक हो तब उस रचना को मूलतः व्यंग्य रचना कहा जा सकता है। ‘यूँ बनी महाभारत’ इस दृष्टि से एक व्यंग्य नाटक ही है। प्रताप सहगल ने एक छोटी सी कथा या घटनावली के जरिए वर्तमान व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों का रोचक चित्रण किया है। लेखक सुमन जोशी, डायरेक्टर अकबर भारती और प्रोड्यूसर विमल निराश एक फिल्म बनाना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें सरकार से आर्थिक मदद चाहिए। यह फिल्म महाभारत के कथानक पर आधारित है। ज़ाहिर है, यह कथानक सुपरिचित और सुपरिभाषित है। इनकी पटकथा में भी कथानक की शुद्धता का ध्यान रखा गया है।

प्रस्तावित फिल्म से जुड़े ये तीनों व्यक्ति तब चकित रह जाते हैं जब उन्हें विभिन्न विभागों से कुछ टिप्पणियां प्राप्त होती हैं। ये ऑब्जर्वेंशंस या रिजर्वेंशंस पटकथा को लेकर हैं। सारे विभाग पटकथा में जो परिवर्तन चाहते हैं वही इस नाटक का विषय है।

यह अनुमान किया जा सकता है कि आज की व्यवस्था में रचनाशीलता के लिए बहुत कम जगह बची है। व्यवस्था जाने किन नियमों और निर्देशों के अनुसार चल रही है कि उसे न मिथकों की चिंता है, न संस्कृति की परवाह और न बौद्धिकता की फ़िक्र। वह अपने आकाओं को खुश करने के प्रयत्न में लगी रहती है। व्यवस्था इतनी गूढ़ और मूढ़ है कि उसे समझ पाना

दुष्कर है। वैसे भी जहां जहां बहुत गूढ़ता होती है वहां वहां मूढ़ता के जाले पैदा हो ही जाते हैं।

लेखक ने छोटे-छोटे दृश्यों के माध्यम से ऐसी मूढ़ताओं का प्रकटीकरण किया है। समाज कल्याण मंत्रालय, मिनिस्ट्री ऑफ पालि-यामेंट्री अफेयर्स, नेशनल कमीशन फॉर वूमन, नेशनल लेबर कमीशन, ह्यूमन राइट्स कमीशन, कमीशन फॉर फिजिकली चैलेंज्ड आदि के सामने जब फिल्म से जुड़े ये व्यक्ति जाते हैं तो उन्हें अत्यंत हास्यास्पद सुझाव मिलते हैं। यानी पटकथा के बरक्स विकट शटकथा। और इसे लेखक ने अब्दुत समझ के साथ प्रस्तुत किया है। प्रताप सहगल के पास बहुत समर्थ भाषा है। इसलिए उनके संवाद गतिशील, अर्थगर्भी, संदर्भ संपन्न, संक्षिप्त, चुटीले और व्यंजनापूर्ण होते हैं। यह नाटक इस बात का प्रमाण है कि वे नाट्यालेखन में कितने निपुण हैं।

एक जगह सुझाव देते हुए अफसर महोदय कहते हैं-

‘अफसर : अब देखिए न, आपके आने से पहले मैं यह फाइल देख रहा था...अपने देश की बढ़ती आबादी देखकर तो चक्कर आने लगते हैं...यू नो इसीलिए हमने लिखा कि ऐसी फिल्म को बढ़ावा न दिया जाए जिसमें एक आदमी के सौ लड़के हों...और वह पाण्डु, वह भी कोई कम नहीं, पीलिया की बीमारी है उसे फिर भी उसके भी पांच...

सुमन : ऐसा तो महाभारत में ही है...इसमें भला हम क्या कर सकते हैं।

अफसर : देखिए, हमारे मंत्रालय की एक हाई पावर कमेटी की बैठक हुई थी, आपकी इसी स्क्रिप्ट को लेकर, मेम्बरान की राय थी कि आज के माहौल को देखते हुए ऐसी फिल्म की सरकारी फंडिंग नहीं होनी चाहिए, जिसमें कौरवों के सौ और पाण्डवों के पांच लड़के दिखाए जाँ...एक मेम्बर ने यहां तक कहा कि इससे तो फीमेल फ्रीटीसाइड की बू आती है...सौ और पांच मेल चाइल्ड एंड व्हाट अबाउट फीमेल्स...।’

यह तो एक उदाहरण है। ऐसे अनेक सुझाव जो पाठक या दर्शक को मनोरंजन से भर देंगे इस पुस्तक में हैं। लेखक का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है। वह संवेदना

और विचार के गिरते स्तर पर टिप्पणी करना चाहता है। उसे यह पता है कि जब व्यवस्था बंधी-बंधाई लकीर पर चलने लगती है तब उसमें बुद्धि का प्रवेश बंद हो जाता है। यह एक्सडिटी बहुत मानीखेज़ है। अतिशयोक्ति लेखन की एक विशेष शक्ति है। इसका सधा इस्तेमाल किया जाए तो बहुत रचनात्मक नतायज मिलते हैं। यह नाटक इस बात को साबित करता है। मूढ़ता का अतिरेकीकरण मनोरंजन और मैसेज दोनों में गुणात्मक वृद्धि करता है।

नाटक में मनोरंजन का रंग गाढ़ा करने के लिए लेखक ने दृश्य सात में विभागीय अधिकारियों की दो संतानों के प्रस्तावित रोमांस का दिलचस्प अंकन किया है। अभिमन्यु और उत्तरा का अभिनय करने के इच्छुक ये संतानद्वय मूढ़ता का विस्तार हैं। लड़की कहती है--

‘तेरा बाप अफसर
मेरा बाप अफसर
जो भी कहेंगे लोग
उन्हें कहने दो
यह पानी है सत्ता का
बहता है, इसे बहने दो’

दृश्य नौ एक तरह से नाटक का निष्कर्षात्मक स्वर है। और यही समापन भी।

किसी भी नाटक की मुक्ति उसके मंचन में है। इसलिए उसे रंगमंचीय लक्षणों से परिपूर्ण होना चाहिए। अन्यथा वह किसी किताब में आजीवन कारावास भोगेगा। यदि रंगमंचीयता की दृष्टि से विचार करें तो छोटे-छोटे नौ दृश्य नाटक को गतिशील बनाए रखते हैं। दृश्यों का अंतर्संबंध सुनियोजित है। पात्र संख्या कम है इसलिए पाठक और दर्शक की स्मृति में ये चरित्र ठहरते हैं। एक पात्र गौण लग सकता है, जो काले कपड़ों में है। वह बार-बार नाटक में आता है और रहस्य पैदा करता है। उसके काले कपड़े प्रतीक हैं व्यवस्था में व्याप्त कालेपन के। वह सही मार्ग से काम करवाने के इच्छुक लोगों की हंसी उड़ाता है और उन्हें संकेत से बताता है कि संभावनों वहां हैं जहां सच्चाई दम तोड़ देती है।

जैसा कि कहा गया संवाद छोटे और चुटीले हैं।

ये संवाद अधिक विवरण नहीं देते हैं। मानसिकता पर टिप्पणी करते हैं। तीनों मुख्य पात्र और विभागों से जुड़े व्यक्ति अपनी-अपनी भाषा में विशिष्ट हैं। लेखक ने विमल निराश की भाषा में स्थानीयता का समावेश भी किया है---

‘जब टरकाणा होता है न तो यह सरकारी अफसर ऐसी ही भाषा लिखते हैं, ऐसी ही बोलते हैं...मैं पहले ही कैरा था न स्क्रिप्ट के साथ वजन डालो...वजन डालो... बिना वजन के आज लौंडा बाप को नहीं पिचाणता ...पर।’

यह नाटक समकालीन रंगनिर्देशों के लिए बहुत उपयोगी है। थोड़ी सी रंगसज्जा से काम चल जाएगा।

विभागों से जुड़े अनेक पात्रों के रूप में एक ही पात्र थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आता है। आज ऐसे ही नाटकों की आवश्यकता है। ये नाटक मनोरंजन के साथ समाज को शिक्षित भी करते हैं। शायद बहुत रूखे और उपदेशात्मक नाटकों का समय अब नहीं है। प्रताप सहगल समय की नब्ज पहचानने वाले नाटककार हैं। एक विशिष्ट नाटक ‘यू बनी महाभारत’ को इस दृष्टि से उदाहरणस्वरूप रखा जा सकता है।

--किताबघर प्रकाशन 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली

सं. 2015 मूल्य:100



+

प्रकाशक, मुद्रक और मालिक डॉ. मो. सलीम ने अजीम इंडिया प्रिंटर्स, 483 अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) में छपवा कर 483 अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) से प्रकाशित किया।

सम्पादक डॉ. मो. सलीम, 483 अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद)

सम्पादक के अतिरिक्त सभी पद अवैतानिक और परिवर्तनशील हैं। लेखों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। सभी मामले प्रयागराज (इलाहाबाद) की ही अदालत में होंगे।